

तुलसी प्रज्ञा

अनुसंधान-त्रैमासिकी

Jain Vishva-Bharati Institute Research Journal

दिव ३ मं १७ - दिस १२



जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं-३४१३०६
मान्य विश्वविद्यालय

Jain Vishva-Bharati Institute, Ladnun-341-306

तुलसीप्रज्ञा-त्रैमासिक अनुसंधानपत्रिका

खण्ड-१८]

शुल्क

[सन् १९६२-६३

वार्षिक

प्रति अंक

आजीवन

४५)

२०)

५००)

पांच वर्षों के लिए—२००) और दस वर्षों के लिए—४००) रुपये
शोधकर्ता विद्वान् और छात्रों के लिए वार्षिक २५) रुपये में देय

- 'तुलसी प्रज्ञा' प्रतिवर्ष—मार्च, जून, सितम्बर और दिसम्बर माह के तीसरे सप्ताह में प्रकाशित होती है।
- प्रकाशनार्थ लेख इत्यादि कागज के एक ओर टंकण कराके भेजें। साधारणतया दस पृष्ठों से बड़ा लेख न हो। जरूरी हो तो विवेच्य विषय दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।
- लेख मौलिक और अप्रकाशित होना जरूरी है। कृपया ऐसा कोई आलेख भी न भेजें जो प्रकाशनार्थ अन्यत्र भेजा गया हो अथवा भेजा जाना हो।
- 'सम्पादक-मण्डल' द्वारा लेखादि में काट-छांट सम्भव है किन्तु भाव और मंशा को सुरक्षित रखा जावेगा। दुर्लभ फोटो और रेखाचित्र मुद्रित हो सकते हैं।
- प्रकाशन-स्वीकृति दो माह के भीतर भेज दी जाती है। अस्वीकृत लेख लौटाने संभव नहीं होंगे। अतः प्रतिलिपि सुरक्षित रख लें।
- लेखादि हिन्दी अथवा अंग्रेजी भाषा में निबद्ध हो सकते हैं; किन्तु आगम और प्राकृत, संस्कृत आदि ग्रन्थों से उद्धरण देवनागरी लिपि में लिखें और उद्धृत-ग्रंथों के संस्करण और प्रकाशन-स्थान भी सूचित करें।
- समीक्षा और समालोचना के लिए प्रत्येक ग्रंथ की दो-दो प्रतियां भेजें।
- सभी प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए—'सम्पादक, "तुलसी प्रज्ञा" जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू-३४१३०६' को संबोधित करना चाहिए।

संपादक

डॉ० परमेश्वर सोलङ्की

आचार्यश्री तुलसी और युवाचार्य



‘महाप्रज्ञ-सा युवाचार्य सहयोगी है हर बात में,
छाया बणकर रहै साथ निशिवासर यातायत में ॥’

—आचार्य तुलसी

दुबशा प्रज्ञा

खण्ड १८

अक्टूबर-दिसम्बर १९९२

अंक-३

Vol. XVIII

Oct.-Dec. 1992

No. 3

संरक्षक

डॉ० रामजी सिंह, कुलपति

संपादक-मण्डल

डॉ० के० कुमार

जीवन विज्ञान एवं प्रेक्षाध्यान विभाग

प्रो० विश्वनाथ मिश्र

जैन विद्या विभाग

डॉ० बच्छराज दूगड़

अहिंसा एवं शांति-शोध विभाग

प्रो० जगतराम भट्टाचार्य

प्राकृत भाषा एवं साहित्य विभाग

प्रबन्ध-संपादक

डॉ० परमेश्वर सोलंकी

Patron

Dr. Ramjee Singh, Vice-chancellor

Editorial Board

Dr. K. Kumar

Deptt. of Jivan Vigyan & Preksha Meditation

Prof. V. N. Mishra

Deptt. of Jainology

Dr. B. R. Dugar

Deptt. of Non-Violence & Peace Research

Prof. J. R. Bhattacharya

Deptt. of Prakrit language and Literture

Managing Editor

Dr. Parmeshwar Solanki

JVBI Research Journal

Jaina Vishva-Bharati Institute, Ladnun 341-306

नोट—इस अंक में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सम्पादक-मंडल अथवा संस्था को वे मान्य हों।

तेरापंथ-साहित्य के मुद्रण की शुरुआत

तेरापंथ-साहित्य का पहला ग्रंथ—'श्रावक ना बारे व्रत अर विनीत-अविनीत री चौपाई', विक्रमी संवत् १८३२ में लिखा गया। आचार्य भिक्षु स्वामी ने कुल ३४ तात्त्विक और २१ कथानकी रचनाएं लिखीं। उनके बाद हुए तेरापंथ-आचार्य एवं उनके शिष्य : साधु-साध्वियों ने तेरापंथ-साहित्य को यथोचित अवदान दिया और उसमें प्रवृद्धि के लिये अविरल लेखन-कार्य किया। वर्तमान युग से पूर्ण सामञ्जस्य लिए हुए अविच्छिन्न और अजस्रगति से आचार्यश्री तुलसी के नेतृत्व में भी यह परम्परा सतत प्रवाहमान है।

यह साहित्य, किन्तु प्रिन्टिंग प्रेस के माध्यम से जनता में पहले पहल कब पहुंचा अथवा पहुंचना शुरू हुआ ? यह कहना कठिन है । इन पंक्तियों के लेखक ने मुम्बई की एक फर्म—खेतसी जीवराज की तरफ से राजभक्त प्रिन्टिंग प्रेस, मुंबई में छपी “श्री भीखुजे जससर्वायण” शीर्षक पुस्तक देखी है जो उसमें छपी इबारत मुजिब संवत् १९४३ में छपी होनी चाहिए और यह प्रकाशन ईसवी सन् के १८८० से शुरू दशक में मुद्रित प्रकाशनों में गिना जाना चाहिए । भोष् चरित, भ्रमवीधसंग, पडीं कमणु, नवपदार्थना ढाला, मूल अर्थ सहीत सूत्रना अध्यन-मुगडागनो छठो, उन्नाधेन नो त्रीजो तथा छुटी गाथाओ—इत्यादि ग्रन्थ और साध वंदना, पचीस बोसुनो थोकडो, परदेसी राजानो रास, सोल सुपना, तेर बोसु—जैसे छोटे-छोटे प्रकाशन भी इसी दशक में हुए हैं । गुजराती भाषा में छपे छोटे-छोटे ग्रन्थ—राम रास, धर्मसार, समकीतसार इत्याद भी इसी समय के हैं ।

ये सभी प्रकाशन, खेतसी जीवराज, वीनेचंद फकीरचंद, साहेबचंद ता थानमल, सोभागचंद बोलतचंद, रतनचंद रूपचंद और सोभाचंद बागाणी सेठ सागरमलजी जैसे महानुभावों की मदद से संभव हुए । फर्म—खेतसी जीवराज के मालिक, संत दुलीचंद और उनकी संसार पक्षी बहिन सती पदमाजी के परिजनों में थे । संत दुलीचंद (पटेलावाद-पर्याय १९२१-१९४३) के पिता माणकचंद और माता मानीबाई भण्डारी थे । उन्होंने ‘सुध सलेखणा’ करके सं० १९४३ के कार्तिक मास को पटलावत ग्राम में मुक्ति पाई थी ।

तेरापंथी कृत देवगुरुधर्मनी उलखाण-नंबर बीजो नामक पुस्तक ‘निर्णय सागर’ छापखाना में संवत् १९५३ माहा शुद्ध ७ ने षोमे: फेब्रवारी सने १८६७ को छपी । यह दूसरा प्रकाशन भी जयपुर के हुकमचंद खारड़ के पुत्र कस्तूरचंद और मारवाड़ी हेमराज निमाणी से शुद्ध कराके शाह खेतशी जीवराज ने ही मुद्रित कराया । इस दूसरे प्रकाशन की प्रस्तावना ऐतिहासिक महत्त्व की है, इसलिए यहां अविकल रूप में पुनः मुद्रित की जा रही है—

प्रस्तावना

“मनुन्य जन्म आर्यक्षेत्र उतमकुल निरोगी काआ पुरी इट्टी पुरो आवषो सतगरुसंजोग सीधातनु सांभलवुं सांभलीने श्रद्धवो श्रधीने तपजप बलप्राक्रम फोर्ववो अत्यंत दूर्लभ छे । तेपामीने देव गुरु धर्म ए त्रण रत्न अमुल्य छे । ते उलखीने धर्मते श्री जिनाज्ञामां छे । ते निरवद्य करणीनी साधु श्रावकने आज्ञाआपे पण सावद्यनी आपे नही । आने जियां आज्ञाछे

त्यां धर्म छे आज्ञानथी त्यां अधर्म छे एवं जाणी देव श्री अरहंत बारगुणे करी सहित पांच महा विदेह क्षेत्रनेविषे विराजमान छे । तेमने देवकरी मानवा गुरु पांच मांहाव्रतना धारक पांच सुमिते सुमिता त्रण गुप्तेगुप्ता तेने गुरु करी मानवा भरत क्षेत्रने विषे श्री माणेकलालजी स्वामि आद देइने तेरापंथीना साध साधवी ।

धर्म केवली भगवंतनो प्ररूप्यो अहिसामां धर्म छे । व्रतमां धर्म छे । ते विषे आ चोपड़ीमां वरणव करयुं छे । जेउंने जोइए । ते मंगावी लेजो । आ ग्रंथ थी श्रद्धा आचार उंलखाण थशे ने घणो जाणपणो थशे । कोइ प्रश्न पुछे तेने उत्तर देवाने थशे । कोइ लखावो तो रू० १५ मां पण लखावा ए नही । पण छपाणा बोततेथी शशता पडचाने ते ऊपर माहाराथी बनी तेवी मेहनत पण घणी करीने जाण्यु जे आपणा तेरापंथी मां घणो प्रशीद्ध पणु थाय घणा तेरापंथी श्रावकने उंपियोग आवे तेमाटे शुद्ध करीने छपावी उं । बीजी अरज ए छे । आपणा तेरापंथी नो ग्रंथ काहाडवो होयतो मने संमाचार दीधाथी तेनी शलाथशे ने हुंथली तरफ लादणु बीदासर सुजाणगढ रतनगढ चुरू सरदारसेर मारवाड़ मेवाड माडवाजेपुर हरीआणा कछकाठी-वाड गुजरात सुरत वगरे गओहतो तीआना शेठीआओए शला दीधी हमोने पका भरोसाहे गणामातवर दीपता गणा श्रावको पुजजीतां साधसाधवी नादर्शन करवा आवे तेने संसारसोभा अर्थे भावभगती करे छे । ते सेठीआ ओनानाम मदददेवा वाला माहे छे जाणवा सवै ओलण्यो छे ।

सवैयो—गुण विना भेषकु मूल न मानत, जीव अजीव का कीया निवेडा ।
पुण्यपापकुं भिन्नभिन्नजानत, आश्रव कर्मकुं लेत उरेरा ॥
आवता कर्म कुं संवर रोकत, निर्जरा कर्मकुंदेत विखेरा ।
बंधतो जीव कुं बांध कर राखत, सास्वता सुख जियूं मोक्ष में देरा ॥
ऐसा घट प्रगट कियां तव, मेट्या भव जीवांरा मिथ्यात्व अंधेरा ।
निर्मल ज्ञान सुं उद्योत कियो तव, एतो पंथ प्रभु तेरा इ तेरा ॥”

यह प्रस्तावना भी इसी बात को उजागर करती है कि विक्रमी संवत् १९५३ (ईसवी सन् १८९७) तक तेरापंथ-साहित्य का मुद्रण ना के बराबर था । हां यह बात समझ ली गई थी कि एक ग्रंथ को लिखाने में १५/- रुपये (उस समय की कीमत के) खर्च आता था और एक प्रति तैयार होती थी किन्तु मुद्रण से बहुत सी प्रतियां तैयार हो जातीं और खर्च भी कम आता था ।

इसलिए ऐसा माना जा सकता है कि तेरापंथी साहित्य के बहुविध प्रकाशन में मुंबई के बाद ओसवाल प्रेस, कलकत्ता का नाम आता है और तदुपरांत तेरापंथी महासभा, आदर्श साहित्य संघ, जैन विश्व भारती आदि प्रमुख संस्थाओं का ।

—परमेश्वर सोलंकी

तुलसीप्रिया

अनुक्रमणिका

संपादकीय—तेरापंथ-साहित्य के मुद्रण की शुरुआत

१. सृष्टि-विज्ञान में जैन उल्लेखों का महत्त्व	१७३
२. जीवों और पौधों के लुप्त होने की समस्या	१७७
३. कवि हरिराज कृत प्राकृत मलयसुन्दरी चरियं	१८१
४. अनुप्रेक्षा : विचारों का सम्यक् चिन्तन	१८९
५. लोक देवता और उनके वाद्य	१९८
६. जैन तीर्थंकरों का गजाभिषेक	१९९
७. परमधर्म श्रुतिविहित अहिंसा	२०६
८. भाग्य को बदलने का सिद्धांत	२०७
९. आचार्यश्री तुलसी की राजस्थानी भाषा-शैली	२१३
१०. प्रमाण-मीमांसा के परिप्रेक्ष्य में प्रमाण के लक्षण-	२१९
११. जैन प्रमाण-मीमांसा में स्मृति प्रमाण	२२३
१२. गांधीजी ने जैन जगत् को जगाया	२३६
१३. तेरापंथ का संस्कृत साहित्य : उद्भव और विकास-३	२३७
१४. उत्तराध्ययन सूत्र में प्रयुक्त उपमान : एक विवेचन	२४५
१५. पुस्तक समीक्षा	२५७
१६. आचार्य तुलसी की नई कृति : तेरापंथ प्रबोध	२६५

English Section

1. Indological Studies in Germany	93
2. Essence of life	104
3. Syādvāda and the Principle of Complementarity	105
4. Ways to ease out Stress	110
5. The Śabdādvaīta concept of Bharatṛhari and the Jaina Logicians	111
6. Mathematical Operation in the Sthānāṅga Sūtra	119
7. Xandrames and Sandracottus (2)	125

लेखक

The Contributors

१. डॉ० परमेश्वर सोलंकी; तुलसी प्रज्ञा, जै० वि० भा० संस्थान, लाडनूं
२. डॉ० सुरेश जैन; क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय, अजमेर
३. श्रीमती चित्रलेखा जैन; गुरुनानक उच्च मा० विद्यालय, अजमेर
४. डॉ० प्रेमसुमन जैन; जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग, सुखाड़िया विश्वविद्यालय उदयपुर
५. डॉ० रज्जन कुमार; पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५
६. डॉ० जयचन्द्र शर्मा; संगीत भारती महाविद्यालय, बीकानेर
७. डॉ० ए. एल. श्री वास्तव; ५ डी ४, लिडिल रोड, जार्ज टाऊन, इलाहाबाद-२
८. डॉ० देवसहाय त्रिवेद; त्रिवेदम्, लंका, वाराणसी-५
९. श्री रत्नलाल जैन; जैन धर्मशाला पास, हांसी-१२५०३३
१०. डॉ० मनोहर शर्मा; कैलाश निकुंज, रानी बाजार, बीकानेर
११. कु० विनीता पाठक; संस्कृत विभाग, कुमायूं विश्वविद्यालय, नैनीताल
१२. राजवीरसिंह शेखाबत; दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर-४
१३. मुनिश्री गुलाबचन्द 'निर्मोही'; शिष्य आचार्यश्री तुलसी
१४. डॉ० हरिशंकर पाण्डेय; प्राकृत विभाग, जै० वि० भा० संस्थान, लाडनूं
१५. डॉ० आनन्द मंगल वाजपेयी; हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय, डीडवाना
१६. श्री आनन्दप्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'; ब्राह्मी विद्यापीठ, जै० वि० भा०, लाडनूं

1. Dr. Parmeshwar Solanki, Tulsi Prajna, JVBI, Ladnun
2. Dr. Suresh Jain, Regional Education College, Ajmar
3. Dr. S. C. Jain, Bhartiya Jnanpeeth, Lodhi Road, New Delhi-3
4. Shri Bajranglal Jain, 9 Pretoria Street, Calcutta-16
5. Dr. Narendra Kumar Dash, Surashree Pally, Bolpur-731204
6. Shri Nagendra Kr. Singh, Patna University, Patna
7. Prof. Upendranath Roy, Matelli (Jalpaiguri)-735223

सृष्टि विज्ञान में जैन उल्लेखों का महत्त्व

□ डॉ० परमेश्वर सोलङ्की

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज का परलोक-गमन १२ जून, १९७६ को हुआ। वे एक विलक्षण पुरुष, महान् तत्त्व चिंतक और तपोवल विशिष्ट मनीषी थे। उनका सारा जीवन साधनामय था। अपने गुरुदेव के आज्ञानुसार उन्होंने न तो किसी को मन्त्रोपदेश किया और न ही किसी गोपनीय विषय का प्रकटीकरण ही किया; किंतु डॉ० भगवतीसिंह ने “मनीषी की लोक यात्रा” में उनके जीवन में घटी अनेकों बातें प्रकाशित की हैं जो उनके द्वारा प्रमाणित भी कर दी गईं। इस ग्रन्थ में डॉ० भगवती सिंह ने ६१ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ कविराज के सत्संग का उन्हीं के शब्दों में विवरण प्रकाशित किया है। उसमें एक विवरण पन्द्रह-सोलह वर्ष के बालक केदार मालाकर का है जो बनारस के बंगाली टोला हाईस्कूल में पढ़ते थे। उस बालक से वे १० अक्टूबर १९३७ को मिले, फिर कई बार मिलते रहे। कविराज द्वारा लिखा उस सत्संग का एक प्रसंग इस प्रकार है—

“एक दिन मैंने इनसे कहा—‘तुम अभी किसी लोक में जाकर देख आओ और हमसे वहाँ का वृत्तांत बताओ। विश्व के बाहर जाकर विश्व की ओर दृष्टि दो, फिर बताओ, क्या दिखाई पड़ता है?’ वे बोले—‘थोड़ा ठहरिए! मेरे शरीर की तरफ लक्ष्य रखिए।’ यह कह कर वे शरीर से निकल गए। दो तीन मिनट के बाद पुनः शरीर में चेतना का अनुभव हुआ। वे लौट आए और बोले....‘मैं देख आया। समस्त विश्व ऐसा दिखाई पड़ता है जैसे एक मनुष्य खड़ा है, हाथ फैलाए हुए क्रॉस की भांति।’ मैंने सोचा, उपनिषदों में निर्दिष्ट यही वैश्वानर विद्या है। जैनाचार्यों का भी ऐसा ही मत है।”

आगे इसी विवरण में कविराज ने केदार मालाकर के २१ वर्षीय जीवन की अनेकों घटनाएं लिखी हैं। माता आनन्दमयी से उनकी भेंट कराने का ब्यौरा और किसी बड़े महात्मा से उनकी स्वतः भेंट होने का भी उल्लेख किया है।

प्रस्तुत विवरण में आए अनन्ताकाश से दृश्यमान लोकाकृति का विवरण लगभग ठीक वैसा ही दीख पड़ता है जैसा सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जंबूदीप प्रज्ञप्ति, द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, व्याख्या प्रज्ञप्ति अथवा लोक विभाग, तिलोयपण्णती, त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों में लिखा बताया गया है। इस विवरण के अनुसार अनन्त आकाश के ठीक बीचों-बीच हमारा लोक अवस्थित है जो नीचे पत्यंक, मध्य में वज्र और ऊपर मृदंग की भांति

दीख पड़ता है। मानो आधे मृदंग के ऊपर पूरा मृदंग रख दें—ऐसी आकृति बनती है। इस लोकाकाश के भीतर जीव पुद्गलादि चेतन-अचेतन द्रव्य हैं और चौतरफ अनन्ताकाश अथवा अलोकाकाश में कुछ भी नहीं है।

लोकाकाश की ऊंचाई १४ राजू और घनफल ३४३ राजू है। उसके अधोलोक में नीचे का पूर्व-पश्चिम विस्तार ७ राजू, मध्य में घटता हुआ एक राजू और पुनः ऊपर बढ़ता हुआ ५ राजू होकर शीर्ष पर एक राजू होता है। यह घनोदधि, घनवात और तनुवात नामक तीन वलियों से वेष्टित है। मध्यलोक के नीचे रत्न, शर्करा, बालुका, पंक, धूम, तम और महातम नाम के सात भाग हैं। मध्यलोक में असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। ये सभी द्वीप थाली अथवा चूड़ी के समान गोल हैं। केन्द्र में परस्पर एक दूसरे को वेष्टित किए पुष्कर, पुष्करोद, वरूणाद, क्षीरवर, धृतोद नदीश्वर और स्वयंभूरमण द्वीप समूह है। द्वीप समूहों के मध्य में सुमेरू पर्वत है जिनके चौतरफ कर्म-अकर्म भूमियां हैं। मनुष्यलोक और तिर्यक् लोक आदि सब उसी में अवस्थित हैं। ऊर्ध्वलोक में १२ अथवा १६ स्वर्ग हैं। उनमें कल्पवासी देवदेवियां रहती हैं। शीर्ष पर सिद्धों का निवास है। ऐसी मान्यता है।

इसी प्रकार जैन मतानुसार आकाश द्रव्य सर्वाधिक विस्तृत है और शेष पांच द्रव्य-धर्म, अधर्म, पुद्गल, जीव और काल उसके छोटे से भाग में अवस्थित हैं। अर्थात् विस्तृत विशुद्ध आकाश के केन्द्र में नगण्य विस्तार वाला लोक स्थित है जो कमर पर हाथ रखकर तथा पैर फैला कर खड़े पुरुष के समान दीख पड़ता है—

वैशाखस्थः कटीन्यस्तहस्तः स्याद्यादृशः पुमान् ।

तादृशं लोक संस्थानमानन्ति मनीषिणः ॥

—(हरिवंश ४।८; महापुराण ४।४२)

किन्तु व्याख्या प्रज्ञप्ति (४२०) में इसे सुप्रतिष्ठक शरयन्त्र (तूपीर) के समान बताया गया है—

लोएणं भंते किं संठिए ।

गोयमा सुपइट्ठग संठिए लोयं पणत्ते ॥

२. बौद्ध परम्परा में पांच स्कन्द-रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान मात्र प्रवाहरूप कहे गए हैं। महात्मा बुद्ध से इस सम्बन्ध में बारंबार पूछा गया किन्तु उन्होंने इस प्रसंग को अव्याकृत प्रश्नों के रूप में अनुत्तरित ही छोड़ दिया। संभवतः उन्हें सृष्टि प्रपंच स्पष्ट नहीं हुआ। पौराणिक सृष्टि-विवरण में प्रकृति, महत्, अहंकार और महाभूत् एवं तन्मात्राओं का एक दूसरे में संप्लव—(आविभाव-तिरोभाव) होने का विस्पष्ट व्याख्यान है। वैदिक परम्परा में हिरण्यगर्भ द्वारा पृथिवी को धारण करने तथा ऋत्-सत् द्वारा उसे यथापूर्व सृजन होने के साथ प्राकृत-वैकृत सर्ग आदि का विवरण प्राप्त है। एक ब्रह्म, त्रिदेव, पंचदेव, नारायण, शेषनाग आदि परम्पराएं भी विशदी-कृत हैं जिन्हें यहां व्याख्यायित करना अभिप्रेत नहीं है किन्तु यह बात स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है कि सिंसधु ब्रह्म की तीन अवस्थाएं होती हैं। सृष्टि पूर्व वह अव्यक्त रहता है, सृष्टि-निर्माण की इच्छा होने पर हिरण्यगर्भ रूप से हिरण्यण्ड गर्भित

होता है और हिरण्यगण्ड से ब्रह्माण्ड-निर्माण बाद विराट् रूप में अभिव्यक्त होता है। ब्रह्म की यह तीनों अवस्थाएं ही सूर्योदय की अव्यक्तावस्था, उदयकालीन रक्तवर्णता और मध्याह्नकालीन उसके भ्राजमान रूप में परिलक्षित होती रहती हैं। दूसरे शब्दों में प्रतीकात्मक सृष्टि विद्या में ओंकार के यही त्रिपाद हैं। इसे एकाकार करें तो यह ब्रह्म के चतुर्मुख अथवा चतुष्पाद बनते हैं जो अन्यत्र स्वस्तिक रूप में व्याख्यायित हैं। सूर्य के दक्षिण-वाम आवर्त रूप में उसे ही दायें-बायें अभिमुख बनाकर मांगलिक कर्म किए जाते हैं।

३. वास्तव में बाइबिल की ६ दिनों की सृष्टि, बौद्धों के पांच स्कन्ध, जैन जगत् के षट् द्रव्यों का परिणमन, पुराणों का सर्ग-विधान और विकास का आधुनिक अध्ययन—सभी सृष्टि विद्या के अलग-अलग परन्तु परस्परपोजीव्य सोपान हैं। उन्हें पृथक्-पृथक् न मानकर एक दूसरे के पूरक रूप में अध्ययन करने की आवश्यकता है। उदाहरण के रूप में पुराण कहते हैं—

कृतं त्रेता द्वापरंच कलिश्चेति चतुर्गुणम् ।

चत्वारि भारते वर्षे युगानि मुनयो विदुः ॥

कृतं त्रेता द्वापरंच युगादिः कलिना सह ।

परिवर्तमानैस्तेरेव भ्रममाणेषु चक्रवत् ॥

किं कृत, त्रेता, द्वापर, कलि—ये चार युग भारत में ही होते हैं और चक्रवत् भ्रममाण रहते हैं। जैन वाङ्मय में ये ही छह भागों में विभक्त हो गए और उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी क्रम से १२ आरों वाला चक्र बन गए; किन्तु उनका आनुक्रमिक परिमाण नहीं बदला। जैसे कृत, त्रेता, द्वापर क्रमशः कम अवधि होकर $४+३+२=९$ अर्थात् नव्वे प्रतिशत वर्षों के तुल्य हैं; वैसे ही सुषमा, सुषमा-सुषमा, सुषमा-दुषमा के दोनों भागों का कालमान भी लगभग इतना प्रतिशत ही हो जाता है। यही नहीं उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी युगअवस्थाओं का विष्णुपुराण, आर्यसिद्धांत और काश्यप संहिता में युगार्थों के रूप में उल्लेख भी प्राप्त होता है।

४. जैन मान्यतानुसार चार चन्द्र और चार सूर्य हैं। वेद संहिताओं में भी दो सूर्य, दो चन्द्रमाओं का उल्लेख है। इस सम्बन्ध में रॉयल इंस्टीट्यूट ऑफ टेकनोलोजी, स्टॉक होम” और “यूनिवर्सिटी ऑफ केलिफोर्निया, सेनिडियागो” के प्रयोगों से दूसरे चन्द्रमा—टोरो का पता चला है जो पृथिवी की १६ वर्षों में एक परिक्रमा पूरी करता है। ऐसे ही अमेरिका द्वारा प्रक्षेपित पायोनियर—१० ने बृहस्पति के सम्बन्ध में जो सूचनाएं भेजी हैं। उन्हें अध्ययन करने के बाद अमेरिकन खगोल शास्त्री उसे सूर्य का छोटा भाई मानने लगे हैं। “सोवियत विज्ञान अकादमी” के प्रो० ई० एम० द्राविकोवस्की ने तो स्पष्ट कह दिया है कि सौर मण्डल का पहला केन्द्र बृहस्पति ही था। “रीडर्स डाइजैस्ट लाइब्रेरी ऑफ मॉडर्न नालेज” में भी जुपीटर (बृहस्पति) को स्वयं की ऊर्जा एवं प्रकाश उत्पन्न करने की क्षमता के आधार पर सूर्य का साथी कहा जाता है। इस सम्बन्ध में “प्राच्य विद्या संस्था, मास्को” के अध्यक्ष प्रो० एल० डी० रीत्रकोव ने भी एक नई जानकारी दी है कि सोवियत संघ के नितांत उत्तरी क्षेत्र (आर्कटिक क्षेत्र) में

घने कोहरे के समय ३५°—४०° सी० तापमान में सूर्य के दो घेरे दीख पड़ते हैं। हो सकता है, ये दृश्य विपरीत दिशा में स्थित सूर्य के प्रतिबिम्ब से पड़ते हों।

ऋग्वेद (४५०.४) में—“बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्” और तैत्तिरीय संहिता (३.१.१५) में लिखे—“बृहस्पतिः प्रथमं जायमान तिष्यं नक्षत्रमभिसंबभूव”—वाक्यों में बृहस्पति को अनन्ताकाश का प्रथम नक्षत्र कहा गया है। ऋग्वेद (१०.१४.११) में उसे यमगृह का रक्षक श्वान बताया गया है। तदनुसार ही आज भी बृहस्पति सौर जगत् का सबसे बड़ा ग्रह है और सूर्य के समान हाइड्रोजन आदि गैसों से बना है जबकि शुक्र आदि दूसरे ग्रह ठोस हैं।

इसी प्रकार भूभ्रमण और ध्रुव की निश्चलता, गुरुत्वाकर्षण और उसका केन्द्र, ब्रह्मांड का आकार-प्रकार आदि की स्थिति-परिस्थिति पर दिव्य दृष्टि सम्पन्न ऋषि महर्षि और आचार्यों ने जो सिद्धांत प्रतिपादित किए हैं; उन्हें सोचने-समझने की आवश्यकता है। भौतिक प्रयोगों से आध्यात्मिक ज्ञान को नकारने की प्रवृत्ति ठीक नहीं है क्योंकि प्रादिनूतन, आदिनूतन, मध्यनूतन, आतनूतन, प्रतिनूतन, सर्वनूतन प्रयोग कभी भी परिपूर्ण नहीं होंगे। इसके विपरीत जैसे दो पीढ़ी पूर्व चूरू के पं० चौमाल ने उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों के परिचालन और पंडित प्रवर प्यारेलाल जैन ने जैन भूगोल को समझने के लिए नई दृष्टि दी वैसे ही प्रयास करणीय हैं। आगम निगमादि में उल्लिखित सिद्धांतों को भी विविधानेक उपायों से उद्घाटित करने की अपेक्षा है।

□□

यस्मात्परम् नापरमस्ति किञ्चित्
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्
एकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

—श्वेता० उपनिषद् (३.६)

जीवों और पौधों के लुप्त होने की समस्या

□ डा० सुरेश जैन एवं श्रीमती चित्रलेखा जैन

[वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक विकास ने एक ओर हमारी बड़ी सहायता की है तथा दूसरी ओर प्रकृति के कार्य में बाधा डाली है। पृथ्वी पर कुल जीवित जातियों की २० प्रतिशत जातियां मानव की प्रकृति विरोधी क्रिया-कलापों से आने वाले २० वर्षों में लुप्त हो जायेंगी। मनुष्य ने अन्य जीवों का अपने आर्थिक एवं मनोरंजनात्मक प्रयोजनों के लिए बिना प्राकृतिक नियमों का अनुसरण किए शोषण किया है एवं कर रहा है। यह सर्वविदित है कि प्रत्येक जीव की प्रकृति में अपनी भूमिका है तथा उसकी अनुपस्थिति प्रकृति में असंतुलन उत्पन्न करती है जिसका कुप्रभाव पृथिवी के अन्य जीवों पर पड़ता है। लुप्त होने वाले सभी प्राणी वर्ग, विकसित पशुओं एवं पौधों के उच्च वर्ग से संबंधित हैं। इनमें विभिन्न फूलदार पौधे, जिनमें पेड़ भी सम्मिलित हैं तथा हाथी, गैंडा, व्हेल, चीता, जेबरा, कबूतर, तोता आदि जीव आते हैं। जीवों के तथा पौधों के लुप्त होने की समस्या ने मानव को सोचने के लिए बाध्य किया है।

—संपादक]

पृथ्वी पर लगभग ३० लाख जीवित जातियां रहती हैं जिनमें से लगभग ६ लाख प्राणियों की जातियों के अस्तित्व को (वर्तमान) विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी से संबंधित क्रियाओं से विनाश का भय उत्पन्न हो गया है। सहचर प्राणियों की ६८ जातियां प्रतिदिन इस पृथ्वी से लुप्त होती जा रही है। मनुष्य जो कि बाहरी दुनिया का सम्राट है, अपने ही भावों एवं आवेगों की आंतरिक दुनिया का दास बन गया है। कृत्रिम साधनों एवं उपकरणों ने व्यक्ति में आत्म अभिमान विकसित करने में बड़ी सहायता की है। प्रौद्योगिक विकास हमें शक्ति तो प्रदान करते हैं पर प्रकृति के साथ सामंजस्य बनाकर रहने जैसे जीवन मूल्य नहीं सिखाते इसीलिए मानव जाति को भी परमाणु शस्त्रों के उत्पादन जैसी अपनी ही क्रियाओं से विनाश के खतरे का सामना करना पड़ रहा है। परमाणु युद्ध जीते नहीं जा सकते वरन् वे इस उपग्रह से ही जीवन को विनष्ट कर देंगे।

विलोप या विनाश के कारण

उपग्रह पर जीवन के असंख्य प्रकार हवा, जल एवं मिट्टी में विचरण करते हुए अरबों-खरबों वर्षों से रह रहे हैं। पर्यावरण में संतुलन जीवन की उत्पत्ति के समय से

खंड १८, अंक ३ (अक्टू-दिस०, ९२)

१७७

ही प्राकृतिक उद्विकास का परिणाम रहा है। जीवों का जन्म व मृत्यु, उनकी जीवन पद्धतियाँ, बीमारियाँ, भूकंप, बिजली गिरना तथा मिट्टी के कटाव जैसी प्राकृतिक घटनाओं के कारण पारस्परिक अनुबन्धों से प्रकृति के परस्परपौषजीवी बना हुआ है। प्रकृति सजीव और निर्जीव के मध्य संतुलन स्थापित करती है जो निरन्तर बना रहता है। मानव उद्विकास, प्राकृतिक पर्यावरण की उपज है; फिर भी उसने प्रायः प्राकृतिक प्रकरण की शक्तियों को चुनौती देते हुए सांस्कृतिक उद्विकास के नाम पर एक नयी रचना की है। आज हम बाढ़ ग्रस्त क्षेत्रों, रेगिस्तानों तथा मिट्टी के कटाव में निरन्तर वृद्धि को अपनी आंखों से देख रहे हैं। जीवन प्रणालियों या संस्थानों में उत्पत्ति-विषयक क्षति, उर्वकों कीटनाशकों, दवाओं के अतिशय उपयोग के कारण उत्पन्न संकट, धुआँ तथा परमाणु विस्फोट और वनों की कटाई के कारण विभिन्न प्रकार के प्रदूषणों के भी हम प्रत्यक्ष दर्शी हैं। ये सब इस पृथ्वी पर जीवन के आगे चलते रहने में संकट उत्पन्न कर रहे हैं।

सन् १९८२ में समस्त विश्व में १४ हेक्टर प्रति मिनिट की दर से पेड़ों की कटाई की गई। दक्षिणी अफ्रीका में लगभग ७०,००० हाथी प्रति वर्ष मारे जा रहे हैं। काले गैंडे की संख्या पिछले दस वर्षों में १/१० अर्थात् १००,००० से १०,००० तक घट गई। आर्कटिक क्षेत्रों में प्रति वर्ष ५,००० समुद्री घोड़े तथा हाथी मारे जा रहे हैं। चीता अब स्त्रियों के कोटों के उपयोग में इसकी खाल के कारण लगभग लुप्त हो गया है। जेबरा की खाल का उपयोग ढोल नगाड़ों में होता है, इसलिए वे भी १०,००० प्रति वर्ष की दर से मारे जा रहे हैं। १८८५ के पूर्व संयुक्त राज्य अमेरिका में लगभग ६ अरब कबूतर थे पर उनमें से अन्तिम कबूतर १-९-१९१४ को ओहियो चिड़ियाघर में मर गया। इस प्रकार हो रहे अज्ञान विनाश काल में अब आप स्वयं मानव प्राणी के बारे में भी सोच सकते हैं।

हम पौधों के महत्त्व से भी इन्कार नहीं कर सकते। हमें भोजन के अतिरिक्त पौधों से ही अपने जीवन के लिए शुद्ध गैस (ऑक्सीजन) यानी प्राण वायु मिलती है। हम यह भी भली प्रकार जानते हैं कि पौधे हमारे बिना रह सकते हैं पर हम पौधों के बिना नहीं रह सकते। वृक्ष प्राण वायु के उत्पादन, वायु-प्रदूषण के नियंत्रण, तथा मिट्टी के कटाव को रोकने, मिट्टी की उर्वरा शक्ति को बनाए रखने, जल के प्रत्यावर्तन एवं आर्द्रता को नियंत्रित करने पक्षियों व पशुओं को आश्रय देने तथा प्रोटीन के समान्तरण में उपयोगी होते हैं। ५० टन वजन वाला एक वृक्ष अपने जीवन काल के ५० वर्षों में २० लाख रुपयों के मूल्य की सेवा करता है। यह इसकी ईमारती लकड़ी, फलों तथा फूलों के रूप में उपयोग के अतिरिक्त है। एक वृक्ष अपने में ईमारती लकड़ी का एक टन बनाने के लिए लगभग डेढ़ टन हानिप्रद कार्बन डाई ऑक्साइड को सोख लेता है तथा उपयोगी ऑक्सीजन का एक टन प्रदान करता है। लुप्त होने के खतरे के अधीन जी रहे पशुओं के महत्त्व को भी उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है। टर्की का गिद्ध (केथारटीज ओरा) प्रदूषण विरोधी पर्यावरण संबंधी नियंत्रक है। यह मृतक पशुओं को खाता है तथा गन्दगी की सफाई करने वाले के रूप में कार्य करता है।

इस पक्षी का सिर बिना पंख का होता है इसलिए पारतील, लोटित किरणों से इसकी चमड़ी में प्रविष्ट होती है तथा सूक्ष्म परजीवी कीटाणुओं को दूर कर देती है जो मृतक शरीर से उस पर जाते हैं।

हाथी के एक दांत का मूल्य ३६,०००,०० रुपये तक हो सकता है। काले गैंडे के अंखुओ जैसे सींगों के प्रति पौंड का मूल्य १४०००० रुपये हो सकता है। तेंदुए का मूल्य १००,००० रुपयों तक हो सकता है। यहां तक कि तोते का मूल्य पश्चिमी दुनिया में ६००० रुपये तक हो सकता है।

वैज्ञानिकों के अनुसार अकेले आस्ट्रेलिया में पुष्पीय पौधों की २२०० जातियां खतरे के अधीन जी रही हैं। भारत में वर्तमान १०० जातियां भी अल्प समय में ही कुप्रबन्ध तथा गलत नियोजन के कारण नष्ट होने वाली हैं। यूविलपिटस पौडोकारप्स, फिलोवलेडस, अगाकिम तथा यहां तक कि एकेसिया भी खतरे में है। रोबोलफिया, सरपेटिया, कौलकियम लेट्यूम, अइसोरिया विथरी, अंकोविटम, डोइनोइटीजम आदि औषधीय वृक्षों को भी लुप्त होने के खतरे का सामना करना पड़ रहा है। यह देखा गया है कि कुल ज्ञात जातियों के लगभग १० प्रतिशत को मानव कृत समस्याओं के कारण लोप के खतरे का सामना करना पड़ रहा है।

पशुओं में लोप के खतरे के अधीन जी रही जातियों के उदाहरण हैं—हाथी, काला गैंडा, समुद्री घोड़ा, तेंदुआ, चीता, गुरिल्ला, जेबरा, कबूतर, तोता, कंगारू, टर्की गिद्ध आदि। मानव जाति को भी परमाणु हथियारों के कारण विनाश का भय बना हुआ है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है पर तथ्य है जैसा ऊपर कहा गया कि संयुक्त राज्य अमेरिका में १८८५ में ६ अरब सांभू कबूतर थे। शिकारियों द्वारा प्रतिदिन लगभग ५ लाख कबूतरों को मारे जाने के कारण यह जाति २९ वर्षों में ही समाप्त हो गई तथा अंतिम कबूतर १-९-१९१४ को मर गया।

विलोप को रोकने के प्रयास की आवश्यकता

हाल ही में प्रकृति में विकसित हुए असंतुलन ने मानव को सोचने तथा पृथ्वी पर रह रही जातियों के और लोप को रोकने के प्रयासों के लिए बाध्य किया है। सन् १९७२ में विश्व के राष्ट्रों के सभी राष्ट्राध्यक्ष स्टोकहोम में आयोजित यू. एन. सभा में मिले तथा इस दिशा में कार्य करने का निश्चय किया। वहां सर्वसम्मति से पारित प्रस्तावों का कहना है—“विश्व के समस्त प्राकृतिक संसाधनों की वर्तमान एवं भावी पीढ़ियों के लाभार्थ सुरक्षा की जानी चाहिए तथा वन्य जीवन एवं प्राणियों की सुरक्षा की जानी चाहिए।” फलतः अधिकांश देशों ने अपने देशों में प्राकृतिक संसाधन तथा परिरक्षण हेतु मंत्रालयों की स्थापना कर दी है।

इस दिशा में कई अंतर्राष्ट्रीय संगठन भी परिश्रम कर रहे हैं। उनमें से कुछ ये हैं—विश्व वन्य जीवन धन कोष, प्राकृतिक संशोधनों तथा प्रकृति के परिक्षण का अंतर्राष्ट्रीय संघ (आई यू सी), विरल पशु दुःख मुक्ति, न्यूयॉर्क (रेयर), खतरे में पड़ी जातियों के लिए युवा लोगों का प्रयास (वाई पी टी ई एस) खतरों में पड़ी जातियों

में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सभा (सी आई टी इ एस) पृथ्वी के मित्र आदि । लोगों में चेतना जागृत करने के लिए कई प्रकाशन भी हुए हैं । (आई यू सी एन) की रेड डेढा पुस्तकें, पृथ्वी के मित्र-प्रन्यास द्वारा खतरे में पड़ी जातियां, “यू एस ए २०००” विस्तृत रिपोर्टें आदि प्रमुख प्रकाशन हैं । कई सरकारों ने भी इस सम्बन्ध में कई अधिनियम बनाए हैं । वन्य जीवन सुरक्षा अधिनियम, घुमक्कड़ पक्षी अधिनियम, धन्य पौधे अधिनियम, वन्य जीवन संरक्षण अधिनियम जो भारत सरकार द्वारा देश में वन्य जीवन के संरक्षण के लिए १९७२ में पास किया गया था, आदि प्रमुख अधि-नियम हैं ।

आजकल हमारे शैक्षिक पाठ्यक्रम में प्रकृति के साथ सामंजस्य बनाए रखने के लिए पर्यावरण सम्बन्धित आचार-संहिता पर बड़ा जोर दिया जा रहा है । पर्यावरण सम्बन्धी आचार-संहिता, सभी जीवों के प्रति आदर भाव तथा प्रकृति में सौन्दर्य की सुरक्षा की भावना बनाने को बनी है । विश्व के सभी धर्म भी जीवों, पशुओं एवं पौधों के संरक्षण के बारे में निर्देश देते हैं । विविध प्राकृतिक संसाधनों जैसे—पेड़—पीपल, बरगद, आम, इमली, महूआ; नदियां—जैसे गंगा, यमुना, पशु जैसे गाय, भैंस, तथा यहां तक कि सूर्य, चन्द्रमा, महासागर, बादल आदि के पूजन के लिए हिन्दू-धर्म में प्रावधान है । जैन-धर्म सभी जीवों तथा पौधों में समत्व के विचार का समर्थन करता है तथा उनको हानि पहुंचाने को मना करता है । मुसलमान भी पशुओं को भोजन के लिए मारने के विचार का समर्थन नहीं करते । इसाइयों की धार्मिक पुस्तक में उल्लेख है कि “हमारा परमात्मा एक ही है । यह पृथ्वी उसके लिए मृत्यवान् है, तथा पृथ्वी को क्षति पहुंचाना इसके सृष्टिकर्ता का अपमान करना है ।” अतः जो काम तुम अपने प्रति अन्यो से करवाना चाहते हो तुम भी उनके प्रति ऐसा ही करो । (मैथ्यू ७:१२) वन्य साम्राज्य का निराधार विनाश परमात्मा द्वारा किये गये प्रयास का अपमान है । (सिनेसिस १:२८) इस प्रकार विनाश से रहित विकास पर आजकल लगातार जोर दिया जा रहा है । □

प्रतिपद्दिनतोऽकाले अमावस्या तथैव च ।
पौर्णमास्यां स्थिरी कुर्यात्स च पंथाहि नान्यथा ॥

—योगकुण्डल्युपरिषद् (३.२)

कवि हरिराजकृत प्राकृत मलयसुन्दरीचरियं

□ डा० प्रेम सुमन जैन

मध्ययुगीन प्राकृत कथासाहित्य में से जो रचनाएं अब तक अप्रकाशित एवं अप्रसिद्ध हैं उनमें मलयसुन्दरीचरियं भी है। इस प्राकृत कथाग्रन्थ की तीन पांडुलिपियों का परिचय हमने पहले प्रस्तुत किया था।^१ सम्पादन-कार्य करते समय भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना में हमने जो मलयसुन्दरीचरियं की पाण्डुलिपि देखी है, उसका परिचय यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।^२ इस पांडुलिपि का उल्लेख डॉ० बेलणकर ने किया है एवं डा० एच० आर० कापड़िया ने इसको अपने कैंटलाग में स्थान दिया है।^३ किन्तु अन्य स्थानों के ग्रन्थ-भण्डारों एवं उनके प्रकाशित कैंटलागों में कवि हरिराजकृत मलयसुन्दरीचरियं की दूसरी प्रति होने की कोई सूचना अभी तक प्राप्त नहीं है।

अब तक मलयसुन्दरीचरियं के सम्बन्ध में संस्कृत, गुजराती, हिन्दी एवं जर्मन में जो ग्रंथ व अनुवाद प्रकाशित हुए हैं, और गतवर्ष हिन्दी में इस कथा को लेकर जो दो कृतियां और सामने आयी हैं,^४ उन सभी कृतियों में प्राकृत की इस रचना को अज्ञात-कलंक माना गया है। पूना की प्रति में पहली बार प्राकृत की इस पांडुलिपि के साथ रचनाकार के रूप में कवि हरिराज की प्रशस्ति प्राप्त होती है। इस प्रति का भादि एवं अन्तिम अंश यहां उद्धृत है—

मलयसुन्दरीचरियं (प्राकृत)

(हट्टिराज, सं० १६२८)

पूजा प्रति (१४०४)

प्रारम्भिक अंश

॥ श्री वीतरागायनमः ॥

पणय-पयकमल सुरयण-किनर-नरविंद नह खयर ।
.....पडिय, णमो णमो तुज्झ जिणइसा ॥१॥
धवलं वर सोहयरे वीणाकर जासु पुत्थिया हत्थे ।
गायंती महुरं.....सरसइ मज्झ ॥२॥
वीरस्स पठम गणहरू पयडो दायार-लद्धि सिद्धीए ।
सो गोयमु समरंतो अप्पउ कल्लाणं सुह कव्वे ॥३॥

खण्ड १८, अंक ३, (अक्टू-दिस०, ९२)

१८१

बुहिपणयण-पयकमलं पणमउ हरसेण पुव्व सुरीणं ।
 मुडइह इय सव्वं पसाउ जिणमत्ति कयसत्ति ॥४॥
 पाइय-वंधे कव्वे पुव्व कयं सोइउण अमीयं सगं ।
 तो मह परिसइच्छाउ पत्तिअ कव्व-आरंभे ॥५॥
 धम्म अपकित्ति-हरणं धम्मं उक्किट्टु मंगलं भणियं ।
 संसार-सार धम्मं, धम्मं धुअ सिवपहे सत्थं ॥६॥
 चउविह धम्माभणिओ जिणदेवेहि चउम्महे पयडो ।
 दाणवहोरो तह सीलं तवभावेण नामए अमलं ॥७॥
 नाणं-दसणं-चरणं रयणत्तयं जीववावहयं हवइ ।
 तह कहियं पि हु सम्मं नाणयहाणं विक्खेइहि ॥८॥
 लोयण तइयं नाणं नाणं दीवंत मोह-रसयलं ।
 नाणं तिहुयणसूरं नाणं अप्पाणं मल-दहणं ॥९॥
 नाणं धरइ सम्मं जीवं पडियं महापया मज्झं ।
 जह सईय मलयसुंदरि वोहए गोसिलो गव्वे ॥१०॥
 अत्थि इह भरहवासे पसिद्ध चंदावाइ पुरी नामे ।
 कणय-मणि-मंदिरेहि पायारगं तुंह-सिहरेहि ॥११॥
 दयासहिओ जहि लोए महाजणो वसइ जत्थ वरसिद्धा ।
 इंदपुरी सारिच्छा मढजिणवर विहं अच्छरियं ॥१२॥
 सिरि वीरधवल नामे अत्थि निबो तत्थ केसरी सरिसो ।
 मायंगअरि-नरिदाण जेण कुंभत्थलं दलियं ॥१३॥

अंतिम अंश

जह सोलु धवलु पापिउ मलया सई पतिसंकडे पडिओ ।
 तिम हो भव्वयणं तुमहं रक्खंतह सुह फलं होइ ॥७९३॥
 तह तवि महावलेणं सहिओ उवसग्ग-पामियओ मुख्खो ।
 तिम जे निचल-ठाणं लहति ते भविय संसिद्धि ॥७९४॥
 जह तिवयं कीयं जंपइ-गुरुमाणि पाविओ मुख्खो ।
 जं कुणहि भविय ते पुणो लहंति सिववास निच्छय इओ ॥७९५॥
 पुव्वकहा अनुसरि रइयं हरीराज मलयावरचरियं ।
 हेमस्सद्देउ सुक्खं हेमप्पह वीरजिणचंदो ॥७९६॥

साटक

सोउणं भव पुव्व दिक्खमहिया सुरेणं वीरेणे वा ।
 काउण कम्मं खयं गया सिवपयं पच्छासु पउमासुयु ।
 लद्धूणं मलयामहत्तरपयं जाइगयं सासिवं
 हेमप्पहरिया कियं पडलए सुक्खं चउहिकारा ॥७९७॥
 संबत् १६२८ चेतवदि ९ सोम ।

पाण्डुलिपि-परिचय

पूना भण्डार की इस प्रति में कुल २८ पन्ने हैं। प्रत्येक पृष्ठ पर लगभग १४ पंक्तियां हैं एवं प्रत्येक पंक्ति में लगभग ४० शब्द हैं। प्रति की स्थिति अच्छी है। किन्तु प्रति की भाषा काफी विकसित (अशुद्ध) है। संयुक्त अक्षरों को प्रायः सरल अक्षरों में ही लिखा गया है। यथा-अत्थि=अधि, तत्थ=तथ, जत्थ=जथ, हुत्तो=हुतो, पिच्छेइ=पिछेइ इत्यादि।

पाण्डुलिपि में ग्रंथ को चार भागों में विभक्त किया गया है। मलयसुंदरी के जन्म—वर्णन तक की कथा १३० गाथाओं तक वर्णित है। इसे प्रथम स्तवक कहा गया है।^१ इसके बाद उसका यौवनवर्णन किया गया है। आगे ३८३ गाथाओं तक मलयासुंदरी के पाणिग्रहण का वर्णन है। इसे द्वितीय स्तवक कहा गया है। इसके आगे की गाथाओं में ५२७ वीं गाथा तक महाबल एवं मलयसुंदरी के अपने नगर एवं गृह में प्रवेश करने का वर्णन है। इसे तृतीय पडल कहा गया है। अंतिम चतुर्थ स्तवक को चतुर्थ पडल कहा गया है, जो ७९७ वीं गाथा पर समाप्त हुआ है।^१ इसमें मलया के शिवपद की प्राप्ति तक की कथा वर्णित है। इस तरह यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत रचना मूल प्राकृत मलयसुन्दरिचरियं का संक्षिप्त रूप है। क्योंकि मूल ग्रन्थ में लगभग १३०० प्राकृत गाथाएं हैं, जबकि इसमें कुल ७९७ गाथाएं हैं।

प्रस्तुत पाण्डुलिपि की प्रशस्ति में इसकी रचना या लेखन समय सं० १६२८ चैत वदी ६ सोमवार दिया हुआ है। इससे यह पाण्डुलिपि विशेष महत्त्व की हो गई है।

कवि-परिचय

पाण्डुलिपि में जो चार स्तवक या पडल हैं उनमें ही गयी पुष्पिकाएं महत्त्वपूर्ण हैं। चारों में कवि ने अपने सम्बन्ध में कुछ नयी बातें बतायी हैं। इस सामग्री के आधार पर प्राकृत मलयसुन्दरी की रचना के कवि के सम्बन्ध में उसका निम्न परिचय स्पष्ट होता है।

कविनाम

इस रचना को लिखने वाले प्राकृत कवि ने अपने को हरिराज, कवि हरिराज, हरि कवि आदि कहा है। प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय पडल की पुष्पिका लगभग सामान्य है। यथा—

सुश्रावक श्री हेमराजार्थ कवि हरिराज विरचिते ज्ञानरत्नोपाख्याने
मलयासुन्दरीचरिते पाणिग्रहण वर्णयो नाम द्विती स्तवकः समाप्तः ।

इससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ का कर्ता कवि हरिराज है। उसने प्रथम पुष्पिका में स्वयं को हरिराज^१ एवं तृतीय पडल में हरी कवि^२ भी कहा है। अंतिम प्रशस्ति में हरीराज उच्चारण है।^१ अन्त में हेमप्रभ आर्य नाम भी कवि के लिए या उसके गुरु के प्रयुक्त लगता है।

हेमप्परिया कियं पडल ए सुक्खं चउर्हिकारा/गा० ७६७

इसका अर्थ "हेमप्रभ आर्य के द्वारा (अथवा के लिए) इस चतुर्थ पडल में सुख का वर्णन किया गया" यदि किया जाय तो व्याकरण की दृष्टि से "हेमप्पहरिया कियं" शुद्ध पाठ नहीं है। अन्य प्रति के मिलने पर इसका निर्णय हो सकेगा।

मध्ययुगीन जैन साहित्य में हरिराज या हरिकवि का नाम अधिक प्रचलित नहीं है। प्राकृत साहित्य के इतिहास में यह नाम अज्ञात है। किन्तु जैन ग्रन्थ-भण्डारों के कटलागों में हरिकवि का कुछ विवरण प्राप्त है। १४ वीं शताब्दी के वज्रसेन के शिष्य हरि मुनि ने "कर्पूरप्रकर" नामक सुभाषित ग्रंथ संस्कृत में लिखा है। इस हरिमुनि द्वारा नेमचरित भी लिखा गया है।^{१०} इनके कर्पूरप्रकर की एक प्रति वि० सं० १६५० की उपलब्ध है।^{११} इस हरिमुनि को "हरिकवि" भी कहा गया है।^{१२} अतः एक सम्भावना यह बनती है कि कर्पूरप्रकर के हरिकवि ही इस मलयसुन्दरीचरियं (प्राकृत) के हरिकवि या हरिराज हों। प्राकृत की यह रचना भी वि० सं० १६२८ में लिखी गई है। अतः १६ वीं शताब्दी के आस-पास हरिकवि या हरिराज का समय रहा हो सकता है।

कविवंश एव परिवार

मलयसुन्दरीचरियं की प्रथम पुष्पिका में कहा गया है कि "श्रीमाल" के विशाल निर्मल कुल में श्री हंसराज के पुत्र (अंगज) (कवि) हरिराज ने सरस गाथाओं में जो अर्थों का विस्तार था, उसे संक्षेप में प्रस्तुत किया है।

श्रीमालस्य विशालवशविमले श्री हंसराजांगजो।

जे अत्थे हरिराय गाह-सरसे संखइ वित्थारिओ।।

इससे ज्ञात होता है कि कवि हरिराज श्रीमाल कुल में हंसराज के पुत्र थे। श्रीमाल कुल जैन परम्परा में प्रसिद्ध है। ज्ञात होता है कि सं० १५५० में हंसराज, नामक एक श्रावक हुए थे, जिनके भाई एकादे ने 'षडावश्यकवचचूरि' की प्रति तैयार की थी।^{१३} अतः १५-१६ वीं शताब्दी में हंसराज नाम प्रचलित था। श्रीमालकुल के शाह हरिराज जा उल्लेख भी प्राप्त होता है।^{१४} किन्तु उनका इस कवि हरिराज से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

कवि हरिराज ने आगे कहा है कि ज्ञान-दर्शन-चरित्र के गुणों की निधि और शील के लिए विख्यात मलया का जो चरित है वह प्रथम जन्म लेने वाले (बड़े भाई) हेम के लिए सुखकारी हो।^{१५} आगे भी कवि ने सुश्रावक श्री हेमराज के लिए इस रचना को लिखने का तीन बार उल्लेख किया है।

सुश्रावक श्री हेमराजाथं कवि हरिराज विरचिते.....।

इससे स्पष्ट है कि हेमराज कवि के बड़े भाई ही नहीं अपितु इस रचना के निर्माण में प्रेरणादायक भी थे। इस तरह एक ही परिवार में हंसराज (पिता), हेमराज (भ्राता) एवं हरिराज (कवि) का होना स्वाभाविक लगता है। तीनों की नामराशि एक है और "राज" शब्द प्रत्येक नाम के अन्त में जुड़ा हुआ है।

यह हेमराज नाम भी १५-१६ वीं शताब्दी में प्रचलित था। वृद्धनगर (बड़नगर)

में देवराज, हेमराज एवं पाटसिंह तीनों भाई श्रीमंत एवं सुश्रावक थे । देवराज ने सोम-सुन्दरसूरि को सूरिपद प्रदान किया था ।^{१६} इस हेमराज और कवि के भ्राता सुश्रावक हेमराज में कोई सम्बन्ध बनता है या नहीं, यह अन्वेषणीय है । एक अन्य उल्लेख में पाटण के श्रीमाल कुल के हेमा का परिचय प्राप्त होता है, जिसका भाई देवी १५०८ सं० में पातशाह महमूद के राज्य में राज्याधिकारी था ।^{१७} यह हेमा “हेमराज” से सम्बन्धित नहीं हो सकता । क्योंकि इसका कुल तो श्रीमाल है, लेकिन पिता का नाम हंसराज न होकर मदनदेवसिंह है ।

इसके अतिरिक्त अंतिम प्रशस्ति में एक पंक्ति आयी है—

हेमस्स देउ सुखं, हेमप्पह वीरजिणचंदो । गा० ७६६

वीर जिनेन्द्र हेम एवं हेमप्रभ के लिए सुख प्रदान करें । यहां प्रथम हेम को हेमराज सुश्रावक माना जा सकता है । किन्तु हेमप्रभ कौन है, यह विचारणीय है । अगली गाथा में इस हेमप्रभ का उल्लेख है ।^{१८} कहीं यह कवि हरिराज के गुरु का नाम तो नहीं है ?

रचना वैशिष्ट्य

मलयसुन्दरीचरियं को कवि ने पूर्वकथा के अनुसार लिखने की बात कही है । किन्तु संकेत नहीं किया कि उन्होंने प्राकृत कथा का आधार लिया है या संस्कृत कथा का । चूंकि कवि हरिराज का समय सं० १६२८ के लगभग है अतः उन्होंने अब तक रचित मलयसुन्दरी कथा सम्बन्धी प्राकृत एवं संस्कृत रचनाओं को अवश्य देखा होगा । गुजराती में भी रचनाएं मलयसुन्दरीरास के नाम से इसके पूर्व लिखी जा चुकी थी ।^{१९} परवर्ती किसी मलयसुन्दरी कथा के लेखक ने कवि हरिराज का उल्लेख या संकेत नहीं किया ।^{२०} इससे लगता है कि प्रस्तुत रचना अधिक प्रसिद्ध नहीं थी । कवि ने इसका अपर नाम “ज्ञानरत्नउपाख्यान” भी दिया है । जयतिलकसूरि (सं० १४५६) ने भी अपनी रचना को यह अपर नाम दिया है ।^{२१} इस कथा के नायक महाबल एवं नायिका मलयासुन्दरी दोनों ही ज्ञान के रत्न थे । सम्भवतः इसी कारण उनके कथानक को “ज्ञान-रत्नोपाख्यान” नाम कवियों ने दिया है । जयतिलकसूरि एवं कवि हरिराज दोनों ने प्रारम्भ में रत्नत्रय एवं ज्ञान के महत्त्व को प्रकट किया है ।

यथा—

तृतीय लोचनं ज्ञानमदृष्टार्थप्रकाशनम् ।
द्वितीय च रवेबिम्ब दृष्टैतरतमो पहम् ॥
ज्ञानं निष्कारणो बन्धुज्ञानं यानं भवाम्बुधौ ।
ज्ञानं प्रखलतां यष्टिज्ञानं दीपस्तमोभरे ॥

—जयतिलकसूरि. म०सुं० श्लोक १७-१८

लोयण तइयं नाणं नाणं दीवंतमोह-रसयलं ।
नाणं तिहुयणसूरं नाणं अप्पाणं मल-दहणं ॥

—हरिराज, म० सुं०च०, गा० ९

प्रतीत होता है कि कवि हरिराज ने जयतिलकसूरि की संस्कृत मलयसुन्दरी कथा

का अवलोकन कर इस प्राकृत कथा को संक्षेप में प्रस्तुत किया है। इन दोनों रचनाओं के अन्तःसाक्ष्य से स्थिति अधिक स्पष्ट हो सकेगी कि इस प्राकृत रचना पर पूर्ववर्ती कवियों का कितना प्रभाव है।

कवि हरिराज ने अपनी इस रचना को सरस्वती का आदेश मानकर लिखा है। उनका कहना है कि यह मलया सती का चरित्र ब्रूच्ये छन्दों (पद्यों) में प्राकृत में कहा गया है। इस काव्य को कवि हरि ने अपनी बुद्धि से श्री हेम के आग्रह के कारण शील के महात्म्य को प्रकट करने के लिए, सज्जन लोगों के संगम और प्रिय जनों के मिलन के आनन्द हेतु सुश्रावक श्री हेमराज के लिए लिखा है।^{२३}

कवि ने प्राकृत भाषा में कथा लिखने की बात कही है। किन्तु कई स्थानों पर उन्होंने संस्कृत के प्रयोग द्वारा कथा को आगे बढ़ाया है।

यथा—

विक्रीता भूरिद्रव्येण तेन सा पि महासती ।
वस्त्ररंजणकारेण क्रीता निःकरुणेन हि ॥५५४॥^{२३}

एवं—

रति न लभते क्वापि लुट्ठती निसि भूतले ।
संदिष्टो दुष्ट सर्पेण निग्रतेन कुतोअपि सा ॥ ६३३॥^{२४}
संस्कृत का प्रयोग सूक्तियों आदि के लिए भी किया गया है।

यथा—

वरं मृत्यु न शीलस्य भंगो येनाक्षतं वृतं ।
देवत्वं लभते वा नरकं च क्षतं व्रतः ॥५७८॥^{२५}

तथा—

सतीनां शीलविधवंसः हतो लोकेअत्र निश्चितं ।
अकीर्ति कुरुते कामं तीव्र दुःख ददाति च ॥५८०॥

ग्रन्थ की भाषा पर गुजराती आदि क्षेत्रीय भाषाओं का भी प्रभाव स्पष्ट है। कवि ने स्वयं ऐसे पद्यों को “दोहड़ा” कहा है। महासति मलया के शील पर जब संकट आया तो कवि उस पर कुदृष्टि रखने वाले को लक्ष्य कर कहता है—

परितिय पिक्खिय जे पुरिस मुरय सुहं इच्छति ।

ते रावण दुक्खं निव पल पचक्ख लहंति ॥५८३॥

जब मलया और महाबल का बहुत दिनों के बाद मिलन हुआ तो उन्हें इस मिलाप से अतिशय आनन्द हुआ। कवि कहता है कि प्रियजनों के मिलाप का आनन्द जिनेन्द्र के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जानता—

बल्लह-जगमेलावउ जं सुह हियउइ होइ ।

लिहि पमाणु जिणवर कहइ अवर न जाणइ कोई ॥६५४॥^{२६}

मलयसुन्दरीचरियं की प्राकृत की तीन पांडुलिपियों का परिचय हमने जो पहले लेख में दिया था, उनसे पूना की यह प्रति भिन्न है। बम्बई, आगरा, लीबड़ी, जैसलमेर और सूरत के ग्रंथभंडारों में इस कथा कि जिन प्राकृत पांडुलिपियों के होने का संकेत है^{२७} वे अभी प्राप्त नहीं की जा सकी हैं। उन्हें देखने पर ही ज्ञात होगा कि पूना की

प्रति से उनका कोई सम्बन्ध है या नहीं। यदि पूना की यह प्रति अकेली भी हो तो भी इसका कई दृष्टियों से महत्त्व है। मलयसुन्दरीचरियं के सम्पादन के साथ इसे भी प्रकाश में लाने का प्रयत्न हम करेंगे।



सन्दर्भ सूची

१. जैन, प्रेम सुमन : "मलयसुन्दरीचरियं की प्राकृत पांडुलिपियां" नामक लेख, वैशाली इन्स्टीट्यूट रिसर्च बुलेटिन नं० ४ (१९८४) में प्रकाशित, पृ० ४९-५२।
२. वेलणकर, एच० डी० : जिनरतनकोश (१९४४), पूना, पृ० ३०२ एवं ३०५।
३. कापडिया, एच० आर० : डिस्क्रिप्टिव कैंटलाग ऑफ मेनुस्क्रिप्ट्स, भाग १९, सेक्शन I, पार्ट II (१९७७), संख्या-१४०४।
४. (१) धामी० मोहनलाल सी० : "महाबल मलयासुन्दरी", अनु०—मुनि दुलहराज, चूरू १९८५।
(२) जैन, रोशनलाल : मलयसुन्दरी, जयपुर (१९८७)।
५. सुश्रावक श्री हेमराजार्थे कवि हरिराज-विरचिते ज्ञानरतनउपाख्याने मलयसुन्दरी-चरिते मलयसुन्दरी-जन्म-वर्णनो नाम प्रथमः स्तवकः।
६. लड्डूण मलयामहत्तरययं जाइगयं सा सिवं।
हेमप्पहरिया कियं पडलए सुक्खं चउ हिकारा (७९७)।
७. जे अत्थक हरिराइ गाहसरसे संखेइ वित्थरिओ। गा० १३१
८. आएसो कमलासिणी हरि कवि कीया कहां सुंदरी।
हेमस्सगह पुंव दिसि हरे से संखेवि विस्थारिया ॥ गा० ५२९
९. पुंव-कहा-अनुसरि रइयं हरीराज मलयावरचरियं। गा० ७९६
१०. देसाई, एम० डी० : जैन साहित्यनो इतिहास, पृ० ३३६ टिप्पण ३६६।
११. मुनि पुण्यविजय : कैंटलाग ऑफ सस्कृत एण्ड प्राकृत मैनुस्क्रिप्ट्स पार्ट-४, पृ० (१९६८), पृ० १५६
१२. मुनि पुण्यविजय : जैसलमेर कलेक्शन, अहमदाबाद (१९७२), पृ० २०२, पृ० २५९ एवं २६०
१३. जैन साहित्यनो इतिहास, पैराग्राफ ६६७।
१४. राजस्थान का जैन साहित्य, जयपुर, पृ० १७७
१५. णाम-दसण-चरिणोगुणनिही सीलस्स विक्खातओ।
सो मलयाचरियं सुजम्म-पढमे हेमस्स सुक्खं करो ॥ गा० १३१
१६. जैन साहित्यनो इतिहास, पृ० ४५३
१७. वही, पृ० ५०३, टिप्पण संख्या ४७१
१८. हेमप्पहारि (येण) कियं पडलए सुक्खं चउहिकारा ॥ गा० ७९७
१९. सं० १५४३ में कवि उदयधर्म का "मलयसुन्दरीरास" एवं सं० १५८० में

चारुचन्द्र के “महाबलमलयसुंदरीरास” की कई प्रतियां प्राप्त हैं ।

२०. शर्मा' डा० ईश्वरानन्द : “कवि जिनहर्षकृत मलयसुंदरीचरियं-एक पर्यवेक्षण”
नामक लेख. मरूधरकेशरी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३५२-३६१
२१. जैसलमेर कलेक्शन : सं०—मुनि पुण्यविजय, पृ० २००, २१ वीं पोथी में
संख्या १७५ की प्रति
२२. भदंतो मलयसईय चरियं सुछंद-पाइक्कए ।
अप्याणं बुहीमाहा विय पडलं योहा वणमेवाणिय ॥
श्री हेमग्गह-कारणे हरि कवि सीलस्स माहप्पउ,
चाहे सज्जण-संगमे पियजणेमेलं च आणंदणं ॥३६५॥
२३. मलयसुंदरीचरियं (पूना पांडुलिपि), पत्र पृ० ३९
२४. वही, पत्र पृ० ४४
२५. वही, पत्र पृ० ४२
२६. वही, पत्र पृ० ४२
२७. वही, पत्र पृ० ४४
२८. जिनरत्नकोश, पृ० ३०२ एवं ३०५, आदि ।



शतं कुलानां प्रथमं बभूव
तथा पराणां त्रिशतं समग्रम् ॥
एते भवन्ति सुकृतस्य लोके
येषां कुले सन्नयसतीह विद्वान् ॥

—शाट्यायनीयोपनिषद् (३०)

अनुप्रेक्षा : विचारों का सम्यक् चिन्तन

□ डा० रज्जन कुमार,

[चिन्तन करना मानव का स्वभाव है। वह जब तक जीवित रहता है सदैव चिन्तन करता रहता है। चिन्तन के लिए वह मस्तिष्क, मन, बुद्धि, प्रज्ञा आदि का प्रयोग करता है। मनुष्य जो कुछ भी चिन्तन करता है, सोचता है और उसे भाषा में व्यक्त करता है, वह उस मनुष्य का विचार कहा जाता है। विचार अच्छे एवं बुरे दोनों प्रकार के हो सकते हैं। प्रायः मनुष्य के जिस चिन्तन से किसी अन्य जीव की हानि नहीं होती है उसे अच्छे विचार एवं जिससे किसी प्राणी की हानि होती है उसे बुरे विचार कहते हैं। अच्छे विचार को व्यक्ति का सद्गुण एवं बुरे विचार को व्यक्ति का दुर्गुण कहा जाता है। जैन-परम्परा में अनुप्रेक्षा के रूप में अच्छे विचार पर व्यापक चिन्तन हुआ है। प्रस्तुत निबन्ध में उसी पर प्रकाश डाला गया है।

—संपादक]

मानव-मन में चिन्तन की प्रक्रिया अबाध गति से चलती रहती है। चिन्तन की इस परिस्थिति में व्यक्ति के मन में नाना प्रकार के प्रपञ्च भाव उठते रहते हैं। कभी उसके मन में 'स्व' के कल्याण का भाव उठता है तो कभी 'पर' के कल्याण का। इसे शुभ प्रवृत्ति कहा जा सकता है। परंतु कभी-कभी व्यक्ति के मन में 'पर' के प्रति द्वेष का भाव उत्पन्न हो जाता है और इस द्वेष के वशीभूत होकर वह 'पर' की हानि करने के लिए विभिन्न प्रकार के उपक्रम करने लगता है। उसके इस कार्य से उसकी आत्मा दूषित होने लगती है, और वह संसार के बंधन में बुरी तरह जकड़ जाता है।

जैन-दर्शन में कर्म को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। इसे व्यक्ति के भाग्य का निर्धारक तत्त्व भी स्वीकार किया गया है। 'भगवतो सूत्र' में कहा गया है कि जीव द्वारा किया गया कर्म कभी भी निष्प्रयोजन नहीं होता। यह अपना फल अवश्य देता है। फल से तात्पर्य परिणाम से है। जीव जैसा कर्म करता है उसे उसी के अनुरूप परिणाम भोगना पड़ता है। कर्म मानसिक, वाचिक और कायिक तीनों ही रूप में फलित होता है। कर्म की इन तीन कोटियों में प्रमुख मानसिक कर्म ही है क्योंकि हम जैसा विचार करेंगे उसी के अनुरूप हमारी वाणी प्रस्फुटित होगी और हमारा शारीरिक प्रयत्न भी उसी के अनुरूप होगा। इसीलिए जैन दर्शन में मानसिक शुद्धि पर ज्यादा बल दिया गया है। मानसिक शुद्धि के लिए तथा सम्यक् विचार के प्रतिपादन

के लिए अनुप्रेक्षा का अत्यधिक महत्त्व है। इसे भावना के नाम से भी जाना जाता है। अनुप्रेक्षा का अर्थ होता है किसी भी विचार का बार-बार चिन्तन करना। किसी भी वस्तु का बार-बार अभ्यास करने से उसके विषय में सम्यक् रूप से जानकारी प्राप्त हो जाती है और किसी प्रकार की गलती की संभावना अत्यंत कम हो जाती है। अनुप्रेक्षा में शुभ विचारों का बार-बार चिन्तन किया जाता है। इससे व्यक्ति का आत्म-विकास होता है और वह समस्त दुःखों से मुक्त होकर परमसुख को प्राप्त कर लेता है।

भावना के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए 'सूत्रकृतांग' में कहा गया है कि भावना से शुद्ध आत्मा वाला पुरुष जल में स्थित नौका के समान है, जिस प्रकार किनारे को प्राप्त कर नौका विश्राम करती है उसी प्रकार पुरुष भी भावना रूपी नौका के सहारे तट को प्राप्त कर सर्व दुःखों से मुक्त होकर विश्राम करता है।^१ इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—उत्तम भावना के योग से जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है वह पुरुष संसार के स्वभाव को छोड़कर जल में नाव की तरह संसार-सागर के ऊपर रहता है। जिस प्रकार नौका जल में नहीं डूबती है, उसी तरह वह व्यक्ति भी संसार-सागर में नहीं डूबता है। जिस प्रकार उत्तम कर्णधार से युक्त और अनुकूल पवन-वायु से प्रेरित नाव सर्व द्वंद्वों से मुक्त होकर तट को प्राप्त कर लेती है ठीक उसी तरह उत्तम चारित्र्य से युक्त जीवरूपी नौका उत्तम आगमरूप कर्णधार से समन्वित तथा तपरूपी पवन से प्रेरित हो दुःख प्रचुरात्मक संसार से छुटकारा पाकर समस्त दुःखों के अभावरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेती है।

यह संसार एक भयानक जंगल है जो अनादि एवं अनंत है। देव, मनुष्य, नारक और तिर्यंच रूप चार गतियां इसके अवयव हैं। ऐसे भयानक संसार रूपी वन को अनुप्रेक्षा या भावना के द्वारा पार किया जा सकता है। भावना या अनुप्रेक्षा के चिन्तन करने से मानव का आत्मिक विकास होता है और वह चरमपद प्राप्त करने की सामर्थ्य से युक्त हो जाता है। जैन आचार का प्रतिपादन करने वाले (श्वेताम्बर एवं दिगम्बर) ग्रन्थों में इस विषय पर समान रूप से चिन्तन हुआ है। अनुप्रेक्षा पर विचार करने वाले कुछ प्रमुख ग्रन्थ हैं—आचारांग, दशवैकालिक, मूलाचार, बारसअणुवेक्खा, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, तत्त्वार्थसूत्र, ज्ञानार्णव आदि। इसकी कुल संख्या बारह मानी गई है^२—१ अनित्यानुप्रेक्षा, २. अशरणाणुप्रेक्षा, ३. संसाराणुप्रेक्षा, ४. एकत्वाणुप्रेक्षा, ५. अन्यत्वाणुप्रेक्षा, ६. अशुचिअणुप्रेक्षा, ७. आस्रवाणुप्रेक्षा, ८. संवाराणुप्रेक्षा, ९. निर्जाराणुवेक्षा, १०. लोकाणुप्रेक्षा, ११. धर्माणुप्रेक्षा और १२. बोधि अणुप्रेक्षा।

अनित्याणुप्रेक्षा संसार की अनित्यता का बोध कराती है। अनित्य का अर्थ है कि कोई भी वस्तु नित्य नहीं है, शाश्वत नहीं है, प्रत्येक वस्तु नाशवान् है। जो नष्ट हो जाने वाला है उसके प्रति किसी तरह का मोह रखना व्यर्थ है। यह संसार ही जब अनित्य है तो इस संसार में रहने वाली सभी वस्तुएं अनित्य हैं, नाशवान् हैं। इनके प्रति किसी तरह का ममत्व नहीं रखने में ही भलाई है। क्योंकि इससे हमारी आसक्ति इनके प्रति बढ़ेगी और हम संसार के बंधन में जकड़ते चले जाएंगे और दुःख की पीड़ा

को अनंत काल तक भोगते रहेंगे ! उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि संसार की सभी वस्तुएं (शरीर, धनादि) अनित्य हैं, इनके प्रति किसी तरह का मोह नहीं रखना चाहिए क्योंकि यह बंधन को दृढ़ करता है ।^{१५} हमें जितने भी दुःख, बलेश आदि के संताप को भोगना पड़ता है उन सबका मुख्य कारण हमारा यह अशाश्वत, क्षणभंगुर, नाशवान् शरीर ही है । दुःखरूपी इस अनित्य शरीर के प्रति अपने मोहासक्ति का त्याग करने से ही हमारा कल्याण हो सकता है । अतः व्यक्ति को अनित्य वस्तुओं के प्रति अपने ममत्व का त्याग करके आत्मकल्याणरूपी पथ पर अग्रसर हो जाना चाहिए ।

मरणादि के भय से व्याप्त संसार में रक्षा करने वाला कोई भी नहीं है, इस प्रकार चिन्तन करने की कला को अशरण अनुप्रेक्षा कहा गया है । मनुष्य अपने कर्मबंध के परिणाम के कारण अशरण है । क्योंकि आत्मा कर्मों के कारण ही बंधन में पड़ती है । कर्मावरण ही इसके अनंत चतुष्टय रूप का घात करते हैं । जीव के कषायरूप प्रवृत्ति के निमित्त को पाकर उसके कर्मों की स्थिति दीर्घ हो जाती है । प्राप्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इसके सहकारी कारण बन जाते हैं । जब वे कर्म अशुभ फल देते हैं तो जीव को इसे भोगना ही पड़ता है । कोई भी उसे इससे नहीं बचा सकता है । मरण-विभक्ति में कहा भी गया है कि कर्मों के उदय के फलस्वरूप जन्म-जरा-मरण-रोग-चिन्ता-भय-वेदना आदि दुःख उत्पन्न होते हैं, उन्हें जीव को भोगना ही पड़ता है । विविध प्रकार के मांगलिक कार्य, तंत्र-मंत्र, पुत्र-मित्र, बंधु-बांधव व्यक्ति को इसके संताप से नहीं बचा सकते हैं । जीव को, आने वाली मृत्यु के मुख में जाना ही होगा ।^{१६} जब जीव को कोई शरण नहीं दे सकता है, इस संसार में जो दुःख है उनसे उसे कोई त्राण नहीं दिला सकता है, तो संसार में जो इतने सम्बन्ध हैं उनके प्रति चिन्ता करना व्यर्थ है । जब व्यक्ति को उसके द्वारा किए गए कर्मों का फल भोगना ही है तो क्यों न सुकर्म ही किए जाए जिससे कि उसका कल्याण हो सके ।

संसार दुःखों से परिपूर्ण है । इस संसार में जो सुख हैं, वे भी दुःख के कारण बनते हैं । संसारानुप्रेक्षा के चिन्तन करने से व्यक्ति इस तथ्य से मलीभांति परिचित हो जाता है तथा सांसारिक सुख-दुःख से उदासीन होकर परमसुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो जाता है । कहा भी गया है कि इस संसार में सर्वत्र दुःख का साम्राज्य है । इनसे कोई भी जीव नहीं बच सकता है ।^{१७} कभी उसे शारीरिक कष्ट भोगना पड़ता है, तो कभी मानसिक बलेश, कहीं मानव को स्त्री-पुत्र के मोह का दुःख है तो कभी वह धन-वियोग के कारण दुःखी रहता है । कभी मानव को मृत्युरूपी दुःख की वेदना भेलनी पड़ती है तो कभी उसे जरारूपी शत्रु का सामना करना पड़ता है । दुःख की इस दुरवस्था का चित्रण संसार भावना में बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है । व्यक्ति इसे समझकर इनसे बचना चाहता है । इसके साथ ही साथ उसे संसार के अन्यान्य प्राणियों के दुःखों के बारे में भी जानकारी रहती है, अतः जब कभी भी उसके सम्मुख उसका स्वयं का अपना दुःख प्रकट होता है तब वह इसे अन्य के दुःखों के साथ तुलना करता है । इससे उसका अपना दुःख कम मालूम पड़ने

लगता है तथा वह महान् दुःख की परिस्थिति में भी अपना धैर्य और संयम नहीं खोता है। जो धैर्य और संयम नहीं खोता है, वह अपना कल्याण सफलता पूर्वक कर लेता है।

मानव स्वयं अपना भाग्य विधाता है। वह जो भी कर्म करता है, उसके फल का भोक्ता वह स्वयं है। कर्म कोई करे फल कोई भोगे ऐसा नियम नहीं है। एकत्व-भावना में वस्तुतः इसी विचार का चिंतन किया जाता है। प्रायः यह देखा जाता है कि व्यक्ति अपने सहोदरों की भलाई के लिए सदैव उद्यत रहता है। अपने पुत्र-पुत्रियों-संबंधियों-मित्रों को सदा खुश देखना चाहता है। वह उनके सुख के लिए परिश्रम करके धन का संचय करता है, भवन का निर्माण करवाता है, पहनने के लिए अच्छे और सुन्दर वस्त्र का इंतजाम करता है। भोजन हेतु नित नए और सुस्वादुिष्ठ आहार की व्यवस्था करता है। इन सबके लिए उसे उचित एवं अनुचित दोनों ही प्रकार के कर्म करने पड़ते हैं। उचित कर्म से आत्मा पर कर्मावरण का बंध दृढ़ तो नहीं होता, परंतु अनुचित कर्म के कारण यह संभव होता है। कर्मबंध के कारण ही उसे संसार के भवभ्रमण का दुःख भोगना पड़ता है। 'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा गया है कि आत्मा ही सुख-दुःख का कर्त्ता-भोक्ता है। श्रेष्ठ आचार से युक्त आत्मा मित्र है तथा दुराचार से युक्त आत्मा शत्रु। दुराचार में प्रवृत्त आत्मा जितना अपना अनिष्ट करती है उतना ज्यादा अनिष्ट परम शत्रु भी नहीं कर पाता है। ऐसे ही दुराचारी आत्मा मृत्यु के समय अपने दुराचार का याद करके दुःखी हुआ करता है और अपना संसार बढ़ाता रहता है।¹⁴ एकत्वाणुप्रेक्षा का चिंतन करने वाला व्यक्ति यह मेरी स्त्री है ! यह मेरा पुत्र है ! यह मेरा सहचर है ! यह मेरा घर है ! यह मेरी सम्पत्ति है ! आदि भावों से मुक्त होकर ममत्वरूपी शत्रु को जीत लेता है तथा पूर्ण अनासक्त जीवन जीता है।

संसार की समस्त वस्तुएं हमसे भिन्न हैं। हम अलग हैं, हमारे बंधु-बांधव, हमारे धन-ऐश्वर्य ये सभी हमसे भिन्न हैं। इन्हें अपना तथा अपने से अभिन्न समझने के कारण ही मनुष्य को दुःखी होना पड़ता है। अन्यत्वाणुप्रेक्षा में इसी भिन्नता पर विचार किया जाता है। मानव का अपना शरीर भी उसका अपना नहीं है क्योंकि आत्मा और शरीर दो भिन्न तथ्य हैं। मरणविभक्ति में लिखा भी है कि हमारा वह शरीर अन्यत्व है, हमारे बंधु-बांधव अन्यत्व हैं।¹⁵ जब हमारा स्वयं का अपना शरीर ही अपना नहीं है तो हमारे बंधु-बांधव कैसे अपने हो सकते हैं। जैनाचार्यों ने तो स्वयं अपने शरीर में होने वाले कष्टों, परिषहों को निर्लिप्त भाव से सहन करने का परामर्श दिया है। उनकी दृष्टि में हमारे शरीर को जो कष्ट वेदना आदि का क्लेश सहना पड़ता है उसके कारण मन में किसी तरह का संताप नहीं लाना चाहिए, कारण इससे हमारे अज्ञान में अभिवृद्धि होगी। हमारी आसक्ति शरीर के प्रति बढ़ सकती है और मोहासक्ति की इस अवस्था में हम संसार रूपी महासमुद्र के गहरे जल में डूबने लगेंगे। जबकि हमारा मुख्य ध्येय इस महासमुद्र के गहरे जल को पार करने से है न कि इसमें डूब जाने से है। अन्यत्व-भावना के द्वारा हमें यह बोध होता है कि शारीरिक

कष्टों तथा बंधु-बांधव के सुख-दुःख से सुखी-दुःखी नहीं होना चाहिए। लोक व्यवहार में जितने भी संबंध हैं उन्हें कर्मों का परिणाम मानकर इनसे मुक्त होने का प्रयास करना चाहिए।

अशुभ-वृत्ति को त्यागने के लिए अशुचि अणुप्रेक्षा का चिंतन किया जाता है। अशुचि का अर्थ अशुभ या अपवित्र होता है। प्रायः व्यक्ति अशुभ एवं अपवित्र वस्तुओं से बचकर रहना चाहता है। जैनों ने मानव शरीर को अपवित्र वस्तुओं से बना हुआ माना है। इसे अनेकानेक व्याधियों का घर माना है। चर्बी, रुधिर, मांस, अस्थि, शुक्रादि अपवित्र वस्तुओं के मिलने से यह शरीर बना है। इस शरीर के प्रति मोह करना व्यर्थ है। शरीर के विभिन्न अंगों में मल, मूत्र, कफ आदि गंदे पदार्थ भरे रहते हैं। सामान्य और साधारण मानव भी इन दूषित तत्त्वों से घृणा करता है। अतः ज्ञानी और प्रज्ञावान् पुरुष को तो ऐसे शरीर के प्रति किसी तरह का मोह रखना ही नहीं चाहिए। आचार्य शिवार्य का कहना है कि अर्थ, काम और मनुष्य का शरीर अशुभ है।^१ व्यक्ति को इन अशुभ तत्त्वों के प्रति सावधान रहना चाहिए तथा धन, शरीर के प्रति दृढ़ आसक्ति का त्याग करना चाहिए। वैसे भी अशुभ वस्तु से किसी तरह की भलाई संभव नहीं है।

जीव को बंधन में डालने वाले कर्मों का आगमन उसकी तरफ कैसे होता है, इन समस्याओं पर विचार करने के लिए आस्रवाणुप्रेक्षा का ध्यान करना पड़ता है। आस्रव को द्वार कहा गया है। किसी का भी आगमन द्वार से ही होता है। कर्मों का भी आत्मा की तरफ आगमन आस्रव द्वार से होता है। मानव कर्म का संचय मानसिक, कायिक, वाचिक तीनों रूपों में करता है। अगर व्यक्ति उत्तम विचारों का चिंतन करता है, निर्दोष वचन बोलता है तथा शुभ चेष्टा करता है तो उसकी आत्मा की तरफ कर्मों का आगमन नहीं होता है तथा अगर वह इसके विपरीत कर्म करता है तो उसकी आत्मा की तरफ कर्मों का आगमन होता है और आत्मा बंधन में पड़ती है। मनुष्य की प्रवृत्ति ही उसे कर्मावरण से मुक्त और युक्त करती है। मरणविभक्ति में कहा गया है ईर्ष्या, विषाद, मान, क्रोध, लोभ, द्वेष आदि आस्रव द्वार हैं। इन आस्रव-द्वारों के माध्यम से कर्म-पुद्गल का आगमन आत्मा की तरफ होता है।^२ कर्म-पुद्गलों का यह आगमन जीव के विनाश का कारण बनता है। क्योंकि ये कर्म-पुद्गल जीव के अनंत चतुष्टय रूप (ज्ञान, चारित्र्य, सुख और वीर्य) की अनंतता का घात कर देते हैं। प्रायः व्यक्ति अपना नाश करने वालों से बचकर रहना चाहता है। यही बात इन आस्रव-द्वारों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए।

गुणों का घात करने वाले कर्म-पुद्गलों के आगमन को आत्मा की तरफ आने से किस प्रकार रोका जा सकता है इस बात का चिन्तन करना संवर अणुप्रेक्षा कहलाता है। संवर का अर्थ होता है रोकना। क्रोध, मान, माया, लोभ ये दुष्प्रवृत्तियाँ हैं। इनसे व्यक्ति को बचना चाहिए क्योंकि ये जीव को कलुषित करते हैं। इन्हीं के कारण जीव बन्धन में पड़ता है तथा दुःख, मोह, आसक्ति की तीव्र पीड़ा को भोगता है। इन दुष्प्रवृत्तियों से बचने के लिए मनुष्य जिन उपायों का आश्रय लेता है उसे

संवर कहते हैं। संवर की सहायता से व्यक्ति आत्मिक गुणों को घात करने वाले कषायरूपी शत्रु को हरा देता है तथा शत्रुंजय होकर परमसुख को प्राप्त कर लेता है। मरणविभक्ति में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जीव को कर्मास्रवों के निरोध का प्रयत्न करना चाहिए। जहां तक संभव हो उसे कर्म संचय की प्रवृत्ति से बचना चाहिए। उसे इंद्रिय निग्रह तथा संयम की मर्यादा को बांध लेना चाहिए तथा कषायों को कृश करने वाली साधना का आलंबन लेना चाहिए।¹³ क्योंकि जब तक व्यक्ति के कषाय अल्प नहीं होंगे तब तक वह अपने आत्मकल्याण के विषय में नहीं सोच पाएगा। कारण प्रबल राग-द्वेष के वशीभूत होने के कारण वह उचित-अनुचित का निर्णय नहीं कर पाएगा। इसीलिए क्रोधरूपी कषाय को क्षमा से, मानरूपी कषाय को नम्रता से, सरलता से मायारूपी कषाय तथा संतोष से लोभरूपी कषाय को जीतने का निर्देश दिया गया है। इन कषायों को अल्प करके ही कोई अपना कल्याण कर सकता है। किसी ने कहा भी है कि संवर के द्वारा ही कषायों को अल्प किया जा सकता है एवं इसकी सहायता से संसार रूपी दुर्गम और दुर्गति देने वाले पथ से मुक्ति पाई जा सकती है।¹⁴

आस्रव को संवर की सहायता से रोककर आगमों में कहे गए विभिन्न प्रकार के तपों की सहायता से संचित कर्मों का क्षय करना निर्जरा है। कर्मों के क्षय के क्रम में निर्जरा के बारे में बार-बार चिंतन करना ही निर्जराणुप्रेक्षा है। संवर के द्वारा कर्मों का आत्मा की तरफ आने की प्रक्रिया पर केवल रोक लगा देने से ही जीव के समस्त कषाय नष्ट नहीं हो जाते हैं। पूर्व जन्म में उसने जो कर्म किए हैं वह संचित कर्म कहलाता है और जब तक यह संचित कर्म नष्ट नहीं हो जाता है आत्मा अपने गुणों को सम्पूर्ण रूप में नहीं जान सकती है। अतः मनुष्य को संचित कर्मों का क्षय करना ही होता है। आचार्य शिवार्य का कहना है कि पूर्व कर्मों का क्षय करना ही निर्जरा है और इसके पूर्ण क्षय किए बिना आत्मा अपने गुणों को नहीं जान सकती।¹⁵ कर्म क्षय हेतु सकाम और अकाम दो प्रकार की निर्जरा की जाती है। सकाम निर्जरा सप्रयोजन होती है और इस हेतु अनशन, अवमौदर्य, ध्यान आदि बारह प्रकार के बाह्य और आंतरिक तप का अभ्यास किया जाता है। विभिन्न गतियों (यथा मनुष्य, देव, पशु (तिर्यच), नारक) में जीव अनिच्छापूर्वक जो कर्म करते हैं (ब्रह्मचर्यादि) उनके फलस्वरूप भी उनके कर्मों की निर्जरा होती है और यह अकाम निर्जरा कहलाती है। इस प्रकार सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके व्यक्ति चरमपद को प्राप्त कर असीम सुख की अनुभूति करता है।

लोक के स्वरूप के बारे में चिन्तन करना लोकानुप्रेक्षा है। षड्रव्यों¹⁶ (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) से निर्मित यह लोक तीन भागों में बंटा हुआ है।¹⁷ १. ऊर्ध्वलोक, २. मध्यलोक और ३. अधोलोक। ऊर्ध्वलोक लोक का सबसे अधिक पुनीत क्षेत्र है। यहां के निवासी शुभ कर्मों से युक्त सुखपूर्वक जीवन जीते हैं। इसे देवलोक के नाम से भी जाना जाता है। सिद्धादि आत्माओं का यह निवास स्थान है। मर्त्यलोक या मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक के नीचे

तथा अधोलोक के ऊपर लोक के मध्य में स्थित है। इस लोक में मनुष्य, पशु आदि जीव रहते हैं। यहां रहने वाले जीवों को जरा-मरण, सुख-दुःख आदि बलेशों का संताप सहना पड़ता है। यहां के प्राणियों में राग द्वेष की मनोवृत्ति पाई जाती है जिसके कारण उसे नाना प्रकार के परिपहों की यातना भोगनी पड़ती है। इस लोक के प्राणी (मनुष्यादि) कर्मबन्धनों को तोड़कर परमपद अर्हत्, सिद्ध आदि को भी प्राप्त कर सकते हैं तथा कर्मबंधन को और दृढ़ करके अधोलोक के निवासी भी बन सकते हैं। अधोलोक को नरक माना गया है। यहां रहने वाले जीवों को महान् दुःख भोगने पड़ते हैं। उन्हें अत्यधिक उष्णता, अत्यधिक शीत, तीव्र दुर्गन्ध आदि को सहना पड़ता है। वे तीव्र क्षुधा की पीड़ा को भोगते हैं, लेकिन पेट भर आहार नहीं प्राप्त कर सकते हैं। 'तत्त्वार्थसूत्र' में नरकभूमि का वर्णन करते हुए कहा गया है—यहां अति प्रचंड शीत, आतप, वध, दुर्गंध, भय आदि जनित वेदनाएं हैं। यहां पर किसी प्रकार का सुख नहीं है। नरक में रहने वाले जीव नपुंसक होते हैं। अतः उन्हें काम-सुख भी उपलब्ध नहीं होता है।" लोकभावना में लोक के इन्हीं स्वरूपों का चित्रण किया जाता है। मानव लोक के इस स्वरूप को समझकर यह निर्णय कर सकता है कि उसे किस लोक का निवासी बनना है।

धर्म क्या है? मानव को धर्म से क्या लाभ हो सकता है? उसे धर्म के प्रति कौन से कर्तव्य का निर्वाह करना चाहिए इत्यादि प्रश्नों का समाधान धर्माणुप्रेक्षा के चिंतन से हो जाता है। धर्म आस्था का विषय है और आस्था के कारण ही व्यक्ति किसी विषय में श्रद्धा रख सकता है। श्रद्धा के वशीभूत होकर व्यक्ति प्रायः गलत कार्यों की ओर उन्मुख नहीं हो पाता है। गलत कार्य नहीं करने से उसके मन में संतोष के भाव का उदय होता है और संतोषी व्यक्ति बड़ा ही धैर्यवान् एवं संयमी होता है। यह राग-द्वेष से भी बुरी तरह से जकड़ा हुआ नहीं होता है। जिसके अल्प राग-द्वेष होते हैं, वह मोक्ष मार्ग का पथिक माना जाता है। उत्तराध्ययन में कहा गया है कि इस संसार में एकमात्र शरण धर्म है, इसके अतिरिक्त जीव की रक्षा कोई और नहीं कर संकता है। जरा-मरण-काम-तृष्णा आदि के प्रवाह में डूबते हुए प्राणियों के लिए धर्म द्वीप का काम करता है। इसी धर्मरूपी द्वीप पर जीव शरण लेता है।" यही कारण है कि धर्म को आत्मकल्याण करने वाला माना गया है, क्योंकि इसमें स्वार्थ, ममता, राग, द्वेष आदि दुर्भावनाओं के लिए कोई स्थान नहीं है। इन सब दोषों से मुक्त व्यक्ति समस्त प्रकार की तृष्णाओं से मुक्त हो जाता है और योनि-भ्रमण के दुःख से छुटकारा पा लेता है।

बोध दुर्लभता के विषय में चिन्तन करना बोधि-दुर्लभ अनुप्रेक्षा है। इसमें यह चिन्तन किया जाता है कि जो बोध प्राप्त हुआ है उसका सम्यक् आचरण करना अत्यंत कठिन है। इस दुर्लभ बोध को पाकर भी सम्यक् आचरण के द्वारा आत्मविकास अथवा निर्वाण को प्राप्त नहीं किया तो पुनः ऐसा बोध होना अत्यंत कठिन है। बोधि प्राप्त करना अत्यंत दुष्कर कार्य है क्योंकि यह केवल मानव पर्याय में ही प्राप्त किया जा सकता है और मानव पर्याय भी बड़ी कठिनता से मिलता है। इसीलिए कहा

भी गया है कि प्रत्येक प्राणी को अपने इस मानव पर्याय का लाभ उठाना चाहिए तथा उसे अपना मुख्य ध्येय बोधि-प्राप्ति को ही बनाना चाहिए। भगवान् महावीर मनुष्यों को बोधि प्राप्ति का संदेश देते हुए कहते हैं कि—हे मनुष्यो ! बोधि को प्राप्त करो; जब तक जीवन है तभी तक तुम बोधि को पा सकते हो, मृत्यु के बाद इसे प्राप्त करना संभव नहीं है। क्योंकि बीती हुई रात्रियां जिस प्रकार वापस नहीं लौटती है ठीक उसी तरह से पुनः मानव जीवन मिलना भी दुर्लभ है।¹⁹ अतः व्यक्ति को चाहिए कि वह सम्यक् आचरण का आश्रय लेते हुए बोधि प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे। क्योंकि उसे बोधि प्राप्ति का स्वर्ण अवसर मिला है अतः उसे इस अवसर को खोना नहीं चाहिए।

इस तरह से हम देखते हैं कि अनुप्रेक्षाओं के चिंतन करने से व्यक्ति का विचार अत्यंत सम्यक् एवं शुद्ध हो जाता है। शुद्ध विचारों से युक्त होकर वह सांसारिक विषय-वासनाओं में आसक्त नहीं होता है। अनासक्त होकर वह कर्म-पुद्गलों का नाश करने की प्रक्रिया को अच्छी तरह से समझ लेता है और इस दिशा में प्रवृत्त होकर आत्मा पर पड़े हुए कर्म-पुद्गलों का नाश करता है। जब वह ऐसा कर लेता है तो उसे चरमपद की प्राप्ति हो जाती है और वह परमसुख की अनुभूति करता है।



संदर्भ :—

१. भगवती सूत्र, १।२।६४

२. भावनाजोगसुद्धप्पया, जले नावा व अहिया।

नावा व तीरसंपन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ।।

—सूत्रकृतांग, १५।५

३. अद्धवमसरणमेगत्तं भण्णसंसारलोपमइत्तं।

आसवसंवर णिज्जर धम्मं बोधि च चित्तिज्ज।।

—भगवती-आराधना, १७१०, कात्तिकेयानुप्रेक्षा, १।२, ज्ञानार्णव, २।७०

४. इदं शरीरमित्यम् अशुच्य शुचि संभवम्।

अशाश्वतावासमिदं, दुःखक्लेशानां भाजनम्।।

—उत्तराध्ययन सूत्र, १९।१३

५. जन्म-जरा-मरण भए अभिहुए विवि हवा हिसतत्ते।

लौयम्मि नत्थि सरणं जिणिं दवरसासणं मुत्तं।।

—मरणविभक्ति, ५७६

६. बहुतिण्व दुक्ख सलिलं अणंतकायप्प वेसपादालं।

चतुपरिबट्टावत्तं चट्टुगदि बहुपट्टमणत्तं।।

—भगवती-आराधना, १७६४

७. न तं अरी कंठद्देत्ता करेइ जंसे करे अप्पणिया दुरप्पा।

से नाहिई मच्चुमुहुं तु पत्ते पच्छाणुतावेण दया विहणो।।

—उत्तराध्ययन सूत्र, २०।४८

८. अन्तो इमं सरीरं अन्तो हं, बंधवा विभे अंते ॥

—मरणविभक्ति, ५९०

९. असुहा अत्था कामा य हुंति देहो य सब्वमणुयाणं ।

एओ चेव सुभो णवरि सब्वसोवखायरो धम्मो ॥

—भगवती-आराधना, ८०७

१०. ईसा-विसाय-मय-कोह-लोह-दोसेहि एवमाईहि ।

देवा वि समभिभूया तेसू वि य कओ सुहं अत्थि ? ॥

—मरणविभक्ति, ६११

११. मरणविभक्ति, ६२०, ६२१

१२. भावना-योग, ले०—आत्मारामजी, पृ० ४८

१३. तवसा विणा णा मोक्खो संवर मित्तेण होइ कम्मस्स ।

उवभोगादीहि विणा घणं ण हु खीयदि सुगुत्तां ॥

—भगवती-आराधना, १८४०

१४. धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुगल-जंतवो ।

एस लोगोत्ति पन्नत्तो जिणेहि वरदंसिहि ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, २८।७

१५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ११५—११८

१६. तत्त्वार्थसूत्र, ३।१—६

१७. एक्को हु धम्मो नरदेव ।

ताणं न विज्जइ अन्नमिहेह किंचि ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, १४।४०

१८. सूत्रकृतांग, २।१।१



चार अनुप्रेक्षाएं

धम्मस्स णं भाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—
एगाणुप्पेहा, अणिच्चानुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा ।

अर्थात्

अकेलेपन का चिन्तन, पदार्थों की अनित्यता का चिन्तन, अशरण-
दशा का चिन्तन और संसार परिभ्रमण का चिन्तन ।

धर्म्यध्यान की ये चार अनुप्रेक्षाएं होती हैं ।

—ठाणं (४.६८)

लोक देवता और उनके वाद्य

सभी प्रकार की देवी-देवताओं की आराधना संगीत कला के माध्यम से की जाती है। मन्दिर, देवालय, मठ आदि धार्मिक स्थलों में नगारा, झालर, मजीरा आदि वाद्य यन्त्रों की ध्वनि के साथ इनकी पूजा की जाती है। संगीत की स्वर-लहरी के साथ देवी-देवताओं की पूजा करने के पीछे सबसे बड़ा रहस्य यह है कि संगीत उक्त देव-शक्ति के अनुरूप वातावरण बनाता है। वह मन को एकाग्र करता है तथा हृदय के भावों को उक्त-शक्ति के साथ जोड़ता है। दैविक शक्ति के अनुरूप ही उनके पृथक्-पृथक् वाद्य-यंत्र हैं। जैसे:—**भैरूजी:**—भैरूजी के भोपे “मसक” वाद्य बजा कर उनके गुण गाते हैं। कुछ भोपे भैरूजी के नाम पर “डेरू” बजाते हैं। “मसक” (सुपिर) स्वर-वाद्य है और डेरू “लय” प्रकट करने वाला वाद्य है। **माताजी:**—माताजी के भोपे भी “डेरू” का प्रयोग करते हैं। “डेरू” के अतिरिक्त कांसा धातु की थाली बजा कर भी “लय” दरसाते हैं। **गोगाजी:**—लोक-देवता गोगाजी के भोपे भी “डेरू” वाद्य का उपयोग करते हैं। इसके साथ ढोल, थाली, कटोरा, सांकल, चिमटा आदि साधनों के माध्यम से “लय” प्रकट कर नाचते हैं। **पाबूजी:**—राठौड़ कुल में जन्म लेने वाले पाबूजी की पूजा भी राजस्थान में लोक-देवता के रूप में की जाती है। इनके भोपे “माटा” वाद्य बजाते हैं। मिट्टी के बने चौड़े मुंह के माटों पर चमड़ा मंडा जाता है। दो माटे बराबर रख कर वादक हाथों की थाप देकर इन्हें बजा कर “लय” प्रकट करता है। **रामदेवजी:**—के पुजारी “तन्दुरा” वाद्य के साथ गाते हैं। ये लोग ढोलक व मजीरा वाद्यों द्वारा “लय” दरसाते हैं। इन वाद्यों के अतिरिक्त “तिरह-ताली” नामक नृत्य इनकी औरतें करती हैं। यह नृत्य बैठे-बैठे ही मजीरों पर विभिन्न प्रकार से आघातों के साथ चलता है। **जाम्भोजी:**—विश्नोई सम्प्रदाय के अनुयायी इनकी उपासना करते हैं। इनके भक्त “नगारा” वाद्य बजाते हैं। ये लोग नगारों को हाथ की थाप से आघात देकर बजाते हैं। **तेजाजी:**—वीर तेजाजी के पुजारी माटों पर कांसा धातु की थाली को उल्टी रख कर बजाते हैं। यह क्रिया भी “लय” प्रकट करने वाली है। **गणगौर:**—गणगौर की पूजा बालिकाएं गीत गाकर करती हैं। किन्तु मेले के दिन गणगौर की प्रतिमा के सम्मुख नगारा अथवा ढोल बजाए जाते हैं जिसकी लय पर नृत्य धार्मिक भावना के अनुरूप किया जाता है। **डूंगजी-जवाहरजी:**—की गाथा गाने वाले “रावण-हृत्था” बजाते हैं। इस वाद्य को पाबूजी की फड़ (पट) बांचने वाले भी बजाते हैं। “रावण-हृत्था” की गज के घुघरू बांधे रखते हैं, उनकी झंकार करके लय प्रकट करते हैं। **होलिका:**—हिन्दू समाज में मुख्य दो त्योहार समस्त भारत में मनाए जाते हैं—दीपावली के अवसर पर किसी प्रकार के संगीत, नृत्य के आयोजन नहीं होते परन्तु होली के अवसर पर “डफ” (चंग) वाद्य के साथ गीत गाने का उपक्रम बसन्त पंचमी से प्रारम्भ होकर होली के मुख्य त्योहार तक चलता है। डांडिया नृत्य और गीदड़ नृत्य नगारों की लय के साथ आयोजित होते हैं और होलिका पूजा जाती है।

—डॉ जयचन्द शर्मा

जैन तीर्थंकरों का गजाभिषेक

□ डा० ए० एल० श्रीवास्तव

विभिन्न जैन तीर्थंकरों की मध्यकालीन ऐसी अनेक प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं जिनके परिकर में लक्ष्मी-प्रतिमा जैसे दो गज अभिषेक मुद्रा में अंकित दिखाए गए हैं। सामान्यतया ये गज आकाश में उड़ते हुए मालाधारी विद्याधरों के ऊपर उकेरे गए हैं। गजाभिषेक वाली तीर्थंकरों की प्रतिमाएं देश के विभिन्न भागों से मिली हैं। मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश और राजस्थान से ऐसी प्रतिमाएं अधिक संख्या में सामने आई हैं। स्थानक और आसनस्थ दोनों प्रकार की तीर्थंकर-प्रतिमाओं के परिकर में गजाभिषेक का अंकन उपलब्ध है।

जिन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं में गजाभिषेक पाया गया है उनमें ऋषभदेव या आदिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर, नेमिनाथ, अजितनाथ, संभवनाथ, विमलनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ और धर्मनाथ की पहचान की जा चुकी है।

शिव जैसे ऊंचे जटाजूट से अलंकृत और ध्यानमुद्रा में आसनस्थ ऋषभदेव की एक ऐसी प्रतिमा की खोज प्रोफेसर कृष्णदत्त बाजपेयी ने मध्यप्रदेश के सरगुजा जनपद के महेशपुर नामक स्थान से की थी। १८ जनवरी, १९८३ ई० को इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग में दिए गए अपने व्याख्यान के दौरान उन्होंने इस प्रतिमा का स्लाइड दिखाया था। प्रो० बाजपेयी के अनुसार यह प्रतिमा ८वीं शताब्दी ई० की है। योगमुद्रा में अर्द्धनिमोलित नेत्रों वाली इस तीर्थंकर प्रतिमा के दोनों पार्श्वों में चंवरधारी एक-एक गंधर्व खड़ा है। दोहरी रेखाओं से खचित एक गोल प्रभा-मण्डल तीर्थंकर के मुख के पीछे अंकित है। तीर्थंकर के शीर्ष के ऊपर एक तिहरी छत्रावली है जिसकी अगल-बगल नीचे मालाधारी विद्याधर और उनके ऊपर अभिषेक गजों का अंकन है।

गजाभिषेक वाली ऋषभदेव की एक अन्य प्रतिमा मध्यप्रदेश के शहडोल जनपद स्थित धुबेला-संग्रहालय (सं० सं० ३८) में प्रदर्शित है।¹ बलुए पत्थर की ११वीं शताब्दी ई० में निर्मित यह प्रतिमा त्रिपुरी की कल्चुरि-कला की डाहल शैली का एक उत्तम उदाहरण है। बैठी मुद्रा वाली इस प्रतिमा के दोनों पार्श्वों में एक-एक यक्ष-दम्पति हैं, उनके ऊपर मालाधारी विद्याधर हैं और सबसे ऊपर लटकती भूल और रस्सों से अलंकृत अभिषेकी गज हैं जिनकी सूंड पंचहरी छत्रावली के ऊपर उठी हुई है। इस प्रतिमा का तिहरा प्रभामण्डल पद्मदलों से सुसज्जित है।

खण्ड १८, अंक ३, (अक्टू-दिस०, ९२)

१९९

धुबेला-संग्रहालय में ही अभिषेकी गजों वाली ऐसी एक-एक प्रतिमा पार्श्वनाथ तथा नेमिनाथ तीर्थंकरों की भी हैं। वे दोनों प्रतिमाएं भी आसनस्थ (बैठी) मुद्रा में हैं।^९

नेमिनाथ तीर्थंकर की स्थानक (खड़ी) मुद्रा वाली एक प्रतिमा इलाहाबाद-संग्रहालय (सं० सं० ए० एम० ४९९) में है।^१ लगभग ९वीं शताब्दी ई० में निर्मित यह प्रतिमा मध्यप्रदेश के रीवा जनपद में गुर्गी से प्राप्त हुई थी। यद्यपि यह प्रतिमा खण्डित है तथापि इसका परिकर अखण्डित और स्पष्ट है। इसमें पद्मदलों वाले प्रभामण्डल तथा छत्र के पार्श्वों में सबसे ऊपर मालाधारी विद्याधर-दम्पति हैं और उनके नीचे गज। किन्तु इस प्रतिमा के गज अभिषेक मुद्रा में नहीं हैं।

मध्यप्रदेश में ही शिवपुरी-संग्रहालय में भी कतिपय ऐसी तीर्थंकर-प्रतिमाएं प्रदर्शित हैं जिनके परिकर में गजों का अंकन भी है। संभवनाथ की एक प्रतिमा में छत्र की अगल-बगल जो गज उकेरे गए हैं उनकी सूंड में पद्म-कलिकाएं हैं। प्रतिमा के पादपीठ में अश्व के अंकन (लाछन) के कारण इस प्रतिमा की पहचान संभवनाथ से की जा सकती है।^४ एक अन्य अजीब प्रतिमा में तीर्थंकर को पद्मासन में बैठे ध्यानमुद्रा में उत्कीर्ण किया गया है। प्रतिमा के वक्ष पर श्रीवत्स का सुन्दर लांछन है। यद्यपि इस प्रतिमा का दाहिना ऊपरी भाग नष्ट हो गया है तथापि बाईं ओर का जो भाग अवशिष्ट है उसमें छत्र की ओर मुख किए गज का अंकन स्पष्ट है।^५ इसी प्रकार एक अन्य तीर्थंकर प्रतिमा का आसन और छत्र अत्यधिक अलंकृत और आकर्षक हैं। इस प्रतिमा की भी ठीक पहचान नहीं हो सकती है। एक अन्य प्रतिमा पार्श्वनाथ की है जो कि सर्प की कुण्डली पर पद्मासन मुद्रा में है और जिसके शीर्ष के ऊपर नाग का सप्तशीर्षी फण है। इन दोनों प्रतिमाओं के परिकर में गज हैं और बाद वाली पार्श्वनाथ की प्रतिमा के गज अपनी उठी हुई सूंडों में घट लिए हुए हैं।^६ शिवपुरी-संग्रहालय में एक द्विमूर्तिका प्रतिमा भी है जिस पर अजितनाथ और संभवनाथ को कायोत्सर्ग मुद्रा में अंकित किया गया है। इन प्रतिमाओं के परिकरों में अन्य अलंकरणों के साथ-साथ छत्र के पार्श्वों में अभिषेकी गज भी हैं।^७

भांसी स्थित रानीमहल-संग्रहालय में एक पार्श्वनाथ समेत कई तीर्थंकरों की ऐसी प्रतिमाएं संग्रहीत हैं जो स्थानक मुद्रा में हैं। ललितपुर (उत्तरप्रदेश) से प्राप्त ये सभी प्रतिमाएं पूर्व मध्यकाल की हैं और इनके परिकरों में अभिषेकी गज हैं जिन्हें मालाधारी विद्याधरों के ऊपर स्थान दिया गया है।

सप्तशीर्षी फण के छत्र वाली पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा को उत्तरप्रदेश के गोण्डा जनपद में स्थित श्रावस्ती के भग्नावशेषों से प्राप्त किया गया है। पद्मासन मुद्रा में बैठी तीर्थंकर की इस प्रतिमा के दोनों पार्श्वों में एक-एक चामरधारी, विद्याधर-दम्पति और छत्रावली के ऊपर अभिषेक मुद्रा में सूंड उठाए गज अंकित हैं।^८ श्रावस्ती से ही प्राप्त ऋषभदेव की आसन वाली बैठी प्रतिमा में २४ जिनों की

आकृतियों के साथ-साथ गज भी हैं। परन्तु इस प्रतिमा के गज अभिषेक मुद्रा में नहीं हैं, अपितु उनकी सूँडें नीचे लटकती हुई दिखाई देती हैं।¹

वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने 'कैटेलॉग ऑव मथुरा म्यूजियम' में कतिपय मध्ययुगीन तीर्थंकर प्रतिमाओं का भी उल्लेख किया है जिनके परिकर में गजों का अंकन सम्मिलित है। पालथी मारकर बैठी नेमिनाथ (सं० सं० बी-२२) की ध्यान-मुद्रा वाली एक प्रतिमा के सिंहासन के अगल-बगल एक-एक चामरधर और यक्ष हैं। इनके ऊपर विद्याधर और उनके ऊपर गज खड़े हैं। प्रभामण्डल के ऊपरी भाग में ढोल बजाती एक आकृति के होने का आभास होता है। इस प्रतिमा के ऊपर एक अभिलेख है जिसमें ११०४ विक्रम संवत् की तिथि (१०४७ ई०) अंकित है।¹⁰ नेमिनाथ की ही एक अन्य खण्डित प्रतिमा (सं० सं० बी-७७) के बायें भाग में पद्म पर गज के पैर अवशिष्ट हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रतिमा के परिकर में भी गजों का अंकन था।¹¹ ध्यानमुद्रा में बैठी एक अन्य जिन-प्रतिमा (सं० १५०४) के गजों की पीठ पर सवार भी दिखाई देते हैं।¹²

पद्मासन और ध्यानमुद्रा में बैठी एक तीर्थंकर-प्रतिमा इलाहाबाद संग्रहालय (सं० सं० ए० एम०-५६०) में है। भूरे बलुए पत्थर की बनी यह प्रतिमा कौशाम्बी से मिली है। ९वीं शताब्दी में निर्मित इस प्रतिमा के दोनों पाश्वर्कों में एक-एक चामरधर खड़े हैं। इस प्रतिमा की तिहरी छत्रावली के अगल-बगल एक-एक विद्याधर-दम्पति और एक-एक गज हैं। इन गजों की सूँडें भी नीचे लटकती हुई दिखाई देती हैं।¹³ इलाहाबाद-संग्रहालय में ही शान्तिनाथ की एक बैठी मुद्रा वाली मूर्ति है जो इलाहाबाद जनपद के पभोसा नामक स्थान से मिली थी। ११वीं शताब्दी ई० में बलुए पत्थर की निर्मित ध्यानमुद्रा वाली इस तीर्थंकर-प्रतिमा की पहचान इसके पादपीठ पर पड़े वस्त्र पर बने हरिण लांछन से की गई है (सं० सं० ए० एम०-५३३)। इस प्रतिमा के दोनों पाश्वर्कों में एक-एक जिन-मूर्ति और एक-एक चामरधर उकेरे गए हैं। ऊपर की ओर दो ताक हैं जिनके भीतर जिन-आकृतियाँ बैठी मुद्रा में अंकित हैं। सबसे ऊपर अन्य प्रतिमाओं के समान छत्रावली के अगल-बगल मालाधारी विद्याधर और गजों की उपस्थिति दर्शनीय है।¹⁴

राजस्थान से मिली मध्ययुगीन पाश्वर्कनाथ की एक प्रतिमा नई दिल्ली स्थित राष्ट्रीय संग्रहालय (सं० सं० ६२.४३४) में प्रदर्शित है।¹⁵ पद्मासन में बैठी और सप्तशीर्षी फण से सुरक्षित इस प्रतिमा के दोनों पाश्वर्कों में एक-एक बैठी श्रावक-आकृति, एक-एक खड़ी जिन-आकृति, एक-एक मालाधारी विद्याधर और एक-एक गज उत्कीर्ण हैं। गजों की पीठ पर एक-एक सवार भी हैं। फण के ऊपर तिहरी छत्रावली और उसके ऊपर एक ढोलवादक दिखाई देता है।

जीवन्तस्वामी की एक अति सुन्दर प्रतिमा जोधपुर-संग्रहालय में है। १०-११वीं शताब्दी ई० में निर्मित यह प्रतिमा राजस्थान के नागौर जनपद के खींवर

नामक स्थान से प्राप्त हुई थी। इस प्रतिमा के छत्र के दोनों पाश्वर्कों में भी अभिषेकी गज द्रष्टव्य हैं।¹⁴

बीकानेर-संग्रहालय में एक ऐसा परिकर है जिसकी तीर्थंकर प्रतिमा अब उपलब्ध नहीं है। १२वीं शताब्दी ई० में निर्मित इस परिकर में नीचे से क्रमशः चामरधर, उड़ते हुए विद्याधर-दम्पति अपनी लटकती सूंड में पद्म-कलिका पकड़े हुए गज दोनों पाश्वर्कों में अब भी अवशिष्ट हैं। इन सबसे ऊपर दुन्दुभि बजाता हुआ एक देवदूत भी है।¹⁵

तीर्थंकर प्रतिमाओं के साथ अभिषेकी गजों की उपस्थिति प्रस्तर के साथ-साथ धातु से निर्मित प्रतिमाओं पर भी पाई गई है। पश्चिमी भारत से प्राप्त और १५वीं शताब्दी ई० में निर्मित विमलनाथ की एक कांस्य पंचतीर्थक प्रतिमा इस समय अमरिका के लॉस एन्जिलिस काउण्टी म्यूजियम ऑफ आर्ट में संग्रहीत है।¹⁶ मध्यप्रदेश से प्राप्त विक्रम संवत् १११४ (१०५७ ई०) की तिथि वाली अभिलेखयुक्त ऋषभनाथ की एक कांस्य प्रतिमा नई दिल्ली स्थित राष्ट्रीय संग्रहालय (सं० सं० ७०.४२) में है।¹⁷ सालारजंग संग्रहालय, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश) में भी वि० सं० १४५३ (१३९६ ई०) की तिथि से युक्त अभिलेख वाली एक कांस्य पंचतीर्थक प्रतिमा है।¹⁸ इसी प्रकार महाराष्ट्र के मुदबिदरी नामक स्थान से उत्तर मध्यकालीन धातु की एक मेरु प्रतिमा मिली है जिसमें बैठी मुद्रा में तीर्थंकर प्रतिमा भी है। इन सभी धातु प्रतिमाओं के परिकर में भी अभिषेकी गज पाए गए हैं।¹⁹ इनके अतिरिक्त भी अनेक तीर्थंकर-प्रतिमाएं और उनके परिकर विभिन्न संग्रहालयों में मौजूद हैं जिनमें ऊपर की ओर गजों की उपस्थिति है।

अब प्रश्न यह उठता है कि तीर्थंकरों की इन प्रतिमाओं पर ये गज क्यों हैं? क्या इन गजों की उपस्थिति का कोई शास्त्रीय अथवा धार्मिक आधार भी है? जैन प्रतिमा-लक्षणों के विश्लेषण से इन प्रश्नों का कोई समाधान नहीं प्राप्त होता है। हां, जिन-माता त्रिशला के चतुर्दश मांगलिक स्वप्नों में एक हाथी भी है। कतिपय जैन ग्रन्थों के आधार पर द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ का लांछन भी गज है। किन्तु इनसे तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के परिकर में गजों की उपस्थिति का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिल पाता है।

जैन परंपरा के अनुसार तीर्थंकरों में कुछ विशेष गुण होते हैं जिन्हें 'अतिशय' कहा गया है। समवायांगसूत्र के अनुसार 'अतिशयों' के अन्तर्गत परिकर के रूप में अष्टमहाप्रतिहार्यों की भी गणना है।²⁰ श्वेताम्बर तथा दिग्म्बर दोनों संप्रदायों की तीर्थंकर-प्रतिमाओं के पूर्ण विकसित परिकर में अष्ट महाप्रतिहार्यों पर विशेष जोर दिया जाने लगा था। इन अष्टमहाप्रतिहार्यों के अन्तर्गत दिव्यतरु, सुरपुष्पवृष्टि, दुन्दुभि, आसन, छत्र, चामर, तेजमण्डल और दिव्य ध्वनि का परिगणन किया गया है—

दिव्यतरुः सुरपुष्पवृष्टिं दुन्दुभिरासनयोजनघोषौ ।

आतपवारणचामरयुग्मे यस्य विभाति च मण्डलतेजः ॥

—जैन शान्तिपाठ

एक दिगम्बर जैन श्लोक से तुलनीय—

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनञ्च ।

भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सप्रतिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥^{३३}

इन अष्टमहाप्रतिहार्यों में गजों को कोई स्थान नहीं मिला है ।

गुप्तकाल के पश्चात् जैन धर्म तथा जैन प्रतिमालक्षण में व्यापक विकास हुआ । ब्राह्मण तथा बौद्ध धर्मों में पनपे तांत्रिक प्रभाव से जैन धर्म भी बच नहीं पाया । उन्हीं के प्रभाव से जैन धर्म के कर्मकाण्ड भी अधिक विस्तृत और जटिल होते गए । इस तथ्य की पुष्टि प्रतिष्ठासारोद्धार (दिगम्बर) तथा आचारदिनकर (श्वेताम्बर) से हो जाती है ।^{३४}

जैन प्रतिमा-लक्षण के अध्ययन के लिए जैन पुराण तथा शिल्प ग्रन्थ जैसे मानसार, अपराजितपृच्छा, देवतामूर्तिप्रकरण, रूपमण्डन और ठक्कर फेरु कृत वास्तुसार आदि उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण हैं । इन ग्रन्थों के अनुसार जैन प्रतिमा के परिकर में श्रीवत्स लांछन के अतिरिक्त यक्ष-यक्षी, शासनदेवता, छत्रावली, दुन्दुभि-वादक, गज पादपीठ में धर्मचक्र और उसके अगल-बगल हरिण अथवा सिंह के अंकन का विधान सुनिश्चित किया गया था ।

जैन तीर्थंकरों के परिकर में गजों का साक्ष्य मानसार तथा रूपमण्डन में प्राप्त होता है । छठी शताब्दी ई० में रचित ब्राह्मण वास्तुविद्या का शिल्पग्रन्थ मानसार अपने एक अध्याय में जैन प्रतिमा-लक्षण का विवरण देता है । उसमें कहा गया है कि तीर्थंकर की खड़ी अथवा बैठी प्रतिमा को आसन पर स्थित दिखाया जाना चाहिए । प्रतिमा के शीर्ष पर एक मेहराब, मकरतोरण तथा उसके ऊपर कल्पतरु, गज और अन्य आकृतियां बनाई जानी चाहिए ।^{३५} संभवतः जैन तीर्थंकर-प्रतिमा के परिकर में गजों का यह प्राचीनतम साक्ष्य है ।

१५वीं शताब्दी ई० के रूपमण्डन में जिन-मूर्ति का विस्तृत वर्णन है । इसमें कहा गया है कि तीर्थंकर की तिहरी छत्रावली के संसर्ग में तीन रथिकाएं, अशोकद्रुम, दिव्य दुन्दुभिवादक और गज तथा आसन के संसर्ग में देवाकृतियां, यक्ष-यक्षी, धर्मचक्र और सिंहों की आकृतियां होनी चाहिए—

क्षत्रत्रयं जिनस्यैव रथिकाभिस्त्रिभिर्यता ॥

अशोकद्रुमातपत्रैश्च देवदुन्दुभिर्वादकैः ।

सिंहासनमसुराद्यौ गर्जसिंहैः विभूषिताः ॥

मध्ये च धर्मचक्रं च तत्पाश्र्वयोश्च यक्षिणी ।

द्वितालविस्तराः कार्या बहिः परिकरस्य तु ॥^{३६}

—६.३३—३५

किन्तु यह प्रश्न अब भी अनुत्तरित ही रहा कि तीर्थंकर की प्रतिमा के साथ अभिषेकी गजों का संसर्ग कैसे और क्यों स्थापित हुआ, क्योंकि उपरोक्त शिल्पग्रन्थों में गजों का उल्लेख तो है किन्तु अभिषेकी गजों का नहीं। इस सन्दर्भ में तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों का उल्लेख आवश्यक है। पंचकल्याणकों में च्यवन (गर्भ), जन्म, दीक्षा, कैवल्य तथा निर्वाण की गणना है जो प्रत्येक तीर्थंकर के जीवन के महत्त्वपूर्ण और मांगलिक अवसर हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इन सभी मांगलिक अवसरों पर अपने दिव्य गज ऐरावत पर सवार इन्द्र तीर्थंकर के अभिसिंचन के लिए उपस्थित होते हैं।^{२१}

अभिषेक का तात्पर्य, पवित्र जलामिसिंचन होता है और गज बादलों तथा जल के प्रतीक माने गए हैं। लक्ष्मी-प्रतिमा में अभिषेकी गजों की परंपरा बड़ी पुरानी है और इस परंपरा से जैन शिल्पी भी चिर परिचित थे। अस्तु उन्होंने तीर्थंकर प्रतिमाओं पर भी इन्द्र द्वारा किए जाने वाले अभिषेक का रूपांकन परंपरा से चले आ रहे लक्ष्मी वाले अभिषेकी गजों के माध्यम से प्रस्तुत कर दिया। जैन शास्त्रों के अनुसार इन अभिषेकी गजों के पीछे ऐरावत पर बैठे इन्द्र द्वारा तीर्थंकर का अभिषेक भले ही बताया जाय, परन्तु वास्तव में यह लक्ष्मी-प्रतिमा के अभिषेकी गजों का अनुकरण मात्र है।

मानसार तथा रूपमण्डन में तीर्थंकर प्रतिमाओं के परिकर में गजों का उल्लेख तो है, पर उन्हें स्पष्ट तौर पर अभिषेक करते हुए नहीं बताया गया है। अधिकांश प्रतिमाओं में तो गजों को अभिषेक मुद्रा में ही अंकित किया गया है, परन्तु कतिपय अन्य प्रतिमाओं पर उनकी सूंडें नीचे लटकती हुई अथवा पद्म-कलिकाएं पकड़े हुए दिखाई गई हैं। पर, इससे यह तात्पर्य कदापि नहीं कि वे गज अभिषेक के निमित्त नहीं हैं। क्योंकि इसी प्रकार के कतिपय उदाहरण हमें लक्ष्मी-प्रतिमाओं में भी मिले हैं जहां गजों को अभिषेक मुद्रा में नहीं दिखलाया गया है। उदाहरण के लिए महाबलीपुरम् की शिला पर उत्कीर्ण लक्ष्मी का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें एक गज की सूंड नीचे लटकती उकेरी गई है। □

सन्दर्भ एवं पाद-टिप्पणी

१. द्रष्टव्य एस० के० दीक्षित, ए गाइड टु द स्टेट म्यूजियम धुबेला, नौगांग (बुन्देल-खण्ड), १९५५-५७, पृ० १३, फलक ३।
२. वही, फलक १ ए और १ बी।
३. द्रष्टव्य प्रमोदचन्द्र, द स्टोन स्कल्पचर इन द इलाहाबाद म्यूजियम, बम्बई, १९७०, कैटलॉग सं० २८७, पृ० ११५, फलक १०१।
४. ए० घोष (संपादक), जैन आर्ट ऐण्ड आर्किटेक्चर, दिल्ली, १९७५, वाल्युम ३, पृ० ५८५।
५. वही, पृ० ५८६, फलक ३७० बी।
६. वही, पृ० ५८६, फलक ३७१ ए और बी।

७. वही, पृ० ५८६, फलक ३७० ए ।
८. वही, वाल्यूम २, फलक १४८ बी ।
९. द्रष्टव्य बी० सी० भट्टाचार्य, द जैन आइवनोग्रैफी, दिल्ली, १९७४, फलक ४ ।
१०. जर्नल ऑव द यू०पी० हिस्टारिकल सोसाइटी, वाल्यूम २३, भाग १-२, १९५०, पृ० ५९ ।
११. वही, पृ० ६२ ।
१२. वही, पृ० ६४ ।
१३. द्रष्टव्य प्रमोदचन्द्र, उपरोक्त, कैटेलाॅग सं० ४०७, पृ० १४३, फलक १३१ ।
१४. वही कैटेलाॅग सं० ४५५, पृ० १५८, फलक १५४ ।
१५. ए० घोष, उपरोक्त, वाल्यूम ३, पृ० ५६२, फलक ३३५ ।
१६. वही, पृ० ५७२, फलक ३५७ ।
१७. वही, वाल्यूम २, फलक १५१ ।
१८. वही, वाल्यूम ३, फलक ३३३ ।
१९. वही, फलक ३४१ ।
२०. वही, फलक ३६३ बी ।
२१. वही, वाल्यूम २, फलक २५८ ।
२२. उमानन्द प्रेमानन्द शाह, 'जैन आइवनोग्रैफी', जैन आर्ट ऐण्ड आर्किटेक्चर, वाल्यूम ३, पृ० ४७६ ।
२३. बी० सी० भट्टाचार्य, उपरोक्त, पृ० २०, टिप्पणी १ ।
२४. उमानन्द प्रेमानन्द शाह, उपरोक्त, पृ० ४७६ ।
२५. वही, पृ० ४६७ ।
२६. रूपमण्डन, ६.३३-३५ द्रष्टव्य बी० सी० भट्टाचार्य, उपरोक्त, भूमिका (बी०एन० शर्मा), पृ० २१ ।
२७. इस सन्दर्भ के लिए लेखक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत कला-इतिहास विभाग के डा० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी का आभारी है ।

○

अजानु लम्बबाहुः श्रीवत्सांगः प्रशान्तमूर्तिश्च ।
दिग्वासास्तरूणो रूपवांश्च कार्योऽर्हती देवः ॥

—वराहमिहिर संहिता (४५.५८)

“परम धर्म श्रुतिविहित अहिंसा”

हमारा भारत एक सर्वतंत्र, स्वतन्त्र, गणतन्त्र राष्ट्र है तथा सत्य व अहिंसा सदा इसका प्रमुख मार्ग रहा है। अहिंसा का अर्थ है किसी को भी मन, वचन, कर्म से कष्ट नहीं पहुंचाना। हिंसा से प्रायः लोग किसी प्राणी की हत्या ही समझते हैं। मुसलमान केवल जंगम वस्तु में प्राण मानते हैं किन्तु हिन्दू चर-अचर सर्वत्र प्राण देखते हैं।

भारत में वैदिक काल से ही अहिंसा का प्रमुख स्थान रहा है। महाभारतकार कहता है—अहिंसा परमो धर्मः सर्वं प्राणभृतां वर। वेदों में कहीं भी बलि हेतु हिंसा का विधान नहीं है। ‘आश्वमेधिक पर्व’ में इन्द्र व पुरोहितों में विवाद हुआ बताया गया है कि यज्ञ में पशुबलि दी जाय या यवादि अन्नों से हवन किया जाय। चेटिराज वसु ने कहा जो मिल जाय उसी से यज्ञ करले। इसलिए वह नरक में गया-ऐसा लिखा है।

अगस्त्य मुनि ने यज्ञ में हिंसा का घोर विरोध किया है। उन्होंने सत्य व अहिंसा अपनाने को कहा जिससे स्वर्ग मिले। वैदिक मान्यता यही है कि हिंसक नरक भोगता है। सम्राट् अशोक मौर्य ने भी यज्ञ में पशुबलि का निषेध किया और उसके पीत्र सम्प्रति ने अहिंसा को पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया।

“परमधर्म श्रुति विहित अहिंसा”—गोस्वामी तुलसीदासजी की यह उक्ति सही है। वस्तुतः ‘अज’ शब्द का अर्थ यव (जौ) होता है न कि बकरा। उसका गलत अर्थ करके लोगोंने हिंसा फैलाई। महाभारत में लिखा है—

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।
अज संज्ञानि बीजानि ह्यगं न घनन्तुमर्हथ ॥
नैषधर्मः सतां देवा यत्र बधयते वै पशुः ।
युष्माकमज बुद्धिर्ह अजो बीजं तदुच्यते ॥

अर्थात् वैदिक श्रुति यह है कि अन्न बीजों से यज्ञ करना चाहिए। ‘अज’ शब्द का अर्थ बीज ही होता है इसलिए ह्यग (बकरे) को नहीं मारना चाहिए। यही सज्जन और देवों का धर्म है। हमारी बुद्धि में जड़ता आ गई है जो ‘अज’ शब्द का गलत अर्थ लेते हैं और पशु बध करते हैं। ‘अज’ तो बीजों को ही कहते हैं और उन्हीं से यज्ञ करना चाहिए। यज्ञ कर्म पूर्णतया अहिंसक कर्म है।

—देवसहाय त्रिवेद

भाग्य को बदलने का सिद्धांत

□ रत्नलाल जैन

विश्व का कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं जो पतिवर्तनशील न हो। जो नित्य है वह अनित्य भी है, और जो अनित्य है वह नित्य भी है। सब परिवर्तनशील है।

भगवान् महावीर ने कर्म सिद्धांत के विषय में कुछ नई धारणाएं दीं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। उन्होंने कहा—“उद्वर्तन (उत्कर्ष), अपवर्तन, (अपकर्ष), उदीरणा और संक्रमण से ‘कर्म को बदला जा सकता है’—दूसरे शब्दों में भाग्य को बदला जा सकता है।

आज का विज्ञान जहां अब इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि पारे से सोना बनाया जा सकता है। प्राचीन रसायन शास्त्रियों ने पारे से सोना बनाने की अनेकों विधियां बताई हैं। जैन ग्रन्थों में भी उनका यत्र-तत्र वर्णन प्राप्त होता है।

पारे से सोना कैसे ?

वैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि पारे के अणु का भार २०० होता है। उसे प्रोटोन के द्वारा तोड़ा जाता है। प्रोटोन का भार १ (एक) होता है। प्रोटोन से विस्फोटित करने पर वह प्रोटोन पारे में घुल-मिल गया और पारे का भार २०१ हो गया। २०१ होते ही अल्फा का कण निकल जाता है, उसका भार चार है, जो कम हो गया। शेष १९७ भार का अणु रह गया। सोने के अणु का भार १९७ और पारे के अणु का भार भी १९७, सो पारा सोना हो गया। वैज्ञानिकों ने इसे सिद्ध कर दिखा दिया है। इस पद्धति से बनाया गया सोना महंगा पड़ता है, किन्तु यह बात प्रामाणिक हो गई है कि पारे से सोना बनता है।

चांदी से सोना

नागार्जुन ने अपने ‘रस-रत्नाकर’ में लिखा है कि गन्धकशुद्धि के प्रयोग द्वारा चांदी को सोने में परिवर्तित किया जा सकता है—

‘इसमें आश्चर्य ही क्या, यदि पीला गन्धक पलास-निर्याम-रस से शोधित होने पर तीन बार गोबर के कण्डों पर गरम करने पर चांदी को सोने में परिवर्तित कर दे।’

तांबे से सोना

रस-रत्नाकर में ही आगे लिखा है—‘इसमें आश्चर्य ही क्या यदि तांबे को रसक रस द्वारा तीन बार तपाएं तो वह सोने में परिणत हो जाए।’ अतः अनेक

क्रियाओं द्वारा तत्त्वों में परिवर्तन हो जाता है ।

ऐसा संक्रमण से होता है । संक्रमण का अर्थ कोशकारों ने इस प्रकार किया है—

१. जाना या चलना । २. एक अवस्था से धीरे-धीरे बदलते हुए दूसरी अवस्था में पहुंचना । ३. सूर्य का एक राशि से निकलकर दूसरी में प्रवेश करना—४, घूमना, पर्यटन ।^१ जैनेन्द्र सिद्धांत कोश के अनुसार—

‘जीव के परिणामों के वश से कर्म प्रकृति का बदलकर अन्य प्रकृति रूप हो जाना संक्रमण है ।’^१ ‘जो प्रकृति पूर्व में बन्धी थी उसका अन्य प्रकृति रूप परिणमन हो जाना संक्रमण है ।’^२ ‘जिस अध्यवसाय से जीव कर्म प्रकृति का बन्ध करता है, उसकी तीव्रता के कारण वह पूवबद्ध सजातीय प्रकृति के दलिकों को बध्यमान दलिकों के साथ संक्रांत कर देता है, पारणत या पारवर्तित कर देता है—यह संक्रमण है ।’^३

‘वर्तमान काल में वनस्पति-विशेषज्ञ अपने प्रयत्न विशेष से खट्टे फल देने वाले पौधे को मीठे फल देने वाले पौधे के रूप में परिवर्तित कर देते हैं । निम्न जाति के बीजों को उच्च जाति के बीजों में बदल देते हैं । इसी प्रक्रिया से गुलाब की सैंकड़ों जातियां पैदा की गई हैं । इसी संक्रमण प्रक्रिया को संकर प्रक्रिया कहा जाता है, जिसका अर्थ संक्रमण करना है । इसी संक्रमणीकरण की प्रक्रिया से संकर मक्का, संकर बाजरा संकर गेहूं के बीज पैदा किए गए हैं ।’^४

चिकित्सा के द्वारा शरीर के विकारग्रस्त अंग-हृदय, नेत्र आदि को हटाकर उनके स्थान पर स्वस्थ हृदय, नेत्र आदि स्थापित कर अन्धे व्यक्ति को सूक्ष्मता कर देते हैं । रुग्ण हृदय को स्वस्थ हृदय बना देते हैं तथा अपच या मंदाग्नि का रोग, सिरदद, ज्वर, निर्बलता आदि रोगों को स्वस्थ बनाकर नीरोगी बना दिया जाता है । इससे दुहरा लाभ होता है—(१) रोग के कष्ट से बचना एवं (२) स्वस्थ अंग से शक्ति का प्राप्ति । इसी प्रकार पूर्व बन्धी हुई अशुभ कर्म प्रकृति को अपनी सजातीय शुभ कर्म प्रकृति में बदला जाता है और उसके दुःखद फल से बचा जा सकता है ।^५

संक्रमण के भेद

संक्रमण के चार प्रकार हैं^६—(१) प्रकृति संक्रम, (२) स्थिति संक्रम, (३) अनुभाव संक्रम और (४) प्रदेश संक्रम ।

प्रकृति संक्रम में पहले बन्धी हुई प्रकृति वर्तमान में बन्धने वाली प्रकृति के रूप में बदल जाती है । इसी प्रकार स्थिति, अनुभाव और प्रदेश का परिवर्तन होता है । किन्तु ‘मूल प्रकृतियां फलानुभव में परस्पर अपरिवर्तनशील हैं ।’ ‘मूल प्रकृतियों का परस्पर संक्रमण नहीं होता ।’^७ अर्थात् ज्ञानावरणी कभी दर्शनावरणी रूप नहीं होती । सारांश यह हुआ कि उत्तर प्रकृतियों में ही संक्रमण होता है । अर्थात् एक कर्म की उत्तर प्रकृति उसी कर्म की अन्य उत्तर प्रकृति रूप में परिणति कर सकती है ।^८

दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का संक्रम नहीं होता । इसी प्रकार सम्यक् वेदनीय और मिथ्यात्व वेदनीय उत्तर प्रकृतियों का भी संक्रम नहीं होता ।

आयुष्य की उत्तर प्रकृतियों का भी परस्पर संक्रम नहीं होता । उदाहरण स्वरूप

नारक आयुष्य, तिर्यञ्च आयुष्य रूप में संक्रम नहीं करता । इसी तरह अन्य आयुष्य भी परस्पर असंक्रमशील हैं ।’

एक बार गौतम ने पूछा^{१४}—

‘भगवान् ! किए हुए पाप कर्मों का फल भोगे बिना उनसे मुक्ति नहीं होती, क्या यह सच है ?’

भगवान् ने उत्तर दिया—‘गौतम ! यह सच है । नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—सब जीव किए पाप कर्मों का फल भोगे बिना उनसे मुक्त नहीं होते ।’

भगवान् महावीर ने आगे कहा^{१५}—‘गौतम ! मैंने दो प्रकार के कर्म बतलाए हैं—(१) प्रदेश^{१६} कर्म और (२) अनुभाग^{१७} कर्म । जो प्रदेश कर्म हैं वे नियमतः भोगे जाते हैं और जो अनुभाग कर्म हैं वे कुछ भोगे जाते हैं और कुछ नहीं भोगे जाते ।

गौतम ने पुनः पूछा—भगवान् ! अन्य यूथिक कहते हैं—सब जीव एवं भूत-वेदना (जैसा कर्म बांधा है वैसे ही) भोगते हैं, यह कैसे है ?

भगवान् बोले—गौतम ! अन्य यूथिक जो ऐसा कहते हैं, वे मिथ्या कहते हैं । मैं तो ऐसे कहता हूँ—कई जीव एवं भूत वेदना भोगते हैं और कई अन्-एवं भूत वेदना भी भोगते हैं । जो जीव किए हुए कर्मों के अनुसार ही वेदना भोगते हैं वे एवं भूत वेदना भोगते हैं । जो जीव किए हुए कर्मों से अन्यथा भी वेदना भोगते हैं, वे अन्-एवं भूत-वेदना भोगते हैं ।^{१८}

इसी प्रकार स्थानांग सूत्र की निम्न गाथा में भगवान् महावीर ने मनुष्य को अपने पुरुषार्थ को जाग्रत करने का सन्देश दिया है—

चउड्विहे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—

सुभे णाम मेगे सुभ विवागे,

सुमे णाम मेगे असुभविवागे ।

असुभे णाम मेगे सुभ विवागे,

असुभे णाम मेगे असुभ विवागे ॥^{१९}

—कुछ कर्म शुभ होते हैं, उनका विपाक भी शुभ होता है ।

कुछ कर्म शुभ होते हैं, पर उनका विपाक अशुभ होता है ।

कुछ कर्म अशुभ होते हैं, पर उनका विपाक शुभ होता है ।

कुछ कर्म अशुभ होते हैं, और उनका विपाक भी अशुभ होता है ।

‘दूसरे शब्दों में, बन्धा हुआ है पुण्य कर्म, पर उसका विपाक होता है पाप, बन्धा हुआ है पाप कर्म, पर उसका विपाक होता है पुण्य । कितनी विचित्र बात है—यह सारा संक्रमण का सिद्धांत है ।’

जो शुभ रूप में बन्धा है, उसका विपाक शुभ होता है । यह एक विकल्प है ।

खण्ड १८, अंक ३, (अक्टू०-दिस०, ९२)

२०९

और जो अशुभ रूप में बंधा है, उसका विपाक अशुभ होता है। यह दूसरा विकल्प है—इन दोनों विकल्पों में कोई विमर्शनीय तत्त्व नहीं है, किन्तु दूसरा और तीसरा—ये दोनों विकल्प महत्त्वपूर्ण हैं, और ये संक्रमण सिद्धांत के प्ररूपक हैं।

संक्रमण का सिद्धांत पुरुषार्थ का सिद्धांत होता है। ऐसा पुरुषार्थ होता है कि अशुभ-शुभ में और शुभ अशुभ में बदल जाता है।

हम पुरुषार्थ का मूल्यांकन करें, हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि सारा दायित्व कर्तृत्व का है, पुरुषार्थ का है।^{१०}

मूल वृत्तियों में परिवर्तन

व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास मूल वृत्तियों के परिवर्तन पर ही निर्भर होता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार यह परिवर्तन चार^{११} पद्धतियों द्वारा सम्भव है—

१. अवदमन (Repression) २. विलयन (Inhibition) ३. मार्गान्तरिकरण (Redirection) और ४. शोधन (Sublimation)।

अवदमन—मूल प्रवृत्तियों का दमन करना जल-प्रवाह पर बांध बांधने के समान होता है। इससे अनेक भावना-ग्रन्थियां उत्पन्न हो जाती हैं।

विलयन—इसके दो अंग हैं—

(१) निरोध और (२) विरोध। निरोध का तात्पर्य वृत्ति को उत्तेजित होने के लिए अवसर ही न देने से है। विरोध—में दो पारस्परिक विरोधी प्रवृत्तियों को एक साथ उत्तेजित कर देने से मूल वृत्तियों में परिवर्तन होता है। संग्रह-वृत्ति, त्याग-भावना से शांत की जा सकती है। स्नेह, सहानुभूति और खेल की प्रवृत्ति उत्पन्न कर देने से युयुत्सा प्रवृत्ति में परिवर्तन लाया जा सकता है।

यही बात पातंजल योग, में कही गयी है—‘वितर्क बाधने प्रतिपक्ष भावनम्’^{१२}। अर्थात् अशुभ भावना को तोड़ना है तो शुभ भावना पैदा करो। ‘दशवैकालिक’ सूत्र में चार आवेगों की प्रतिपक्षी भावना का सुन्दर निरूपण किया गया है—

उवसमेण हणे कोहं, माणं महवया जिणे।

मायामज्जव भावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥^{१३}

—‘यदि क्रोध के भाव को नष्ट करना तो उपशम—क्षमा के संस्कार को पुष्ट करना होगा। उपशम का भाव जितना अधिक पुष्ट होगा, क्रोध का आवेग उतना ही क्षीण होता चला जाएगा। अभिमान के आवेग—भाव को विनम्रता से जीता जा सकता है। माया के आवेग को नष्ट करने के लिए ऋजुता—आर्जव—सरलता के संस्कार को पुष्ट करना होगा। लोभ की प्रवृत्ति संतोष के भाव से नष्ट या कम की जा सकती है।’ अतः भोग की प्रवृत्ति के शमन के लिए त्याग की उदात्त भावना को जीवन का अंग बनाना पड़ेगा। यही भाग्य को बदलने का सिद्धांत है। □

संदर्भ—

१. कर्मवाद, पृ० १०२—युवाचार्य महाप्रज्ञ ।

२. वही ।

३. 'वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा', पृ० १५९ ।

—डा० सत्य प्रकाश डी० एस०सी०

—किमत्र चित्रं यदि पीत गंधकः पलाश निर्यास रसेन शोधितः ।
आरण्यकैः हृत्पलकैस्तु पाचितः करोति तारं त्रिपुटेन काञ्चनम् ॥

४. वही—

किमत्र चित्रं रसको रसेन.....

क्रमेण कृत्वाम्बुधरेण रञ्जितः करोति शुल्वं त्रिपुटेन काञ्चनम् ॥

५. नालन्दा विशाल शब्द-सागर, पृ० १३७२-७३ ।

६. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (भाग ४) पृ० ८२ ।

७. (क) 'जैन कर्म सिद्धांत और मनोविज्ञान' पृ० १६३ ।

(ख) गोम्मटसार कर्मकांड, जीव तत्त्व प्रदीपिका ४६८।५९१।१४
—पर प्रकृति रूप परिणमनं संक्रमणम् ।

८. (क) जैन कर्म सिद्धांत और मनोविज्ञान पृ० १६३ ।

(ख) नव पदार्थ—आचार्य भीखणजी ।

सटिप्पण अनुवादक - श्री चन्दरामपुरिया, पृ० ७२६ ।

(ग) जैन धर्म और दर्शन, पृ० ३०७ ।

(घ) संक्रमकरणम् (भाग १) पृ० २ : कर्मप्रकृती—

'सो संक्रमो ति वुचचइ जं बन्धन परिणओ पओणेण ।

पगयन्तरत्थं दलियं, परिणमयइ तयणु भावे जं' ॥१॥

९. जिनवाणी—कर्म सिद्धांत विशेषांक, अक्टूबर-दिसंबर '८४'

—करण सिद्धांत—भाग्य निर्माण की प्रक्रिया पृ० ८१ ।

—श्री कन्हैयालाल लोढ़ा

१०. वही, पृ० ८२ ।

११. ठाणं, ४.२-९७ : चउव्विह संकमे पणत्ते, तं जहा—

पगति संकमे, ठिति संकमे, अणुभाव संकमे, पएस संकमे ।

१२. गोम्मटसार कर्म कांड, मूल व जीव तत्त्व प्रदीपिका-४१० ।

णत्थि मूलपयडीणं ।.....संक्रमणं ॥४१०॥

मूल प्रकृतीनां परस्पर संक्रमणं नास्ति,.....

१३. (क) तत्त्वार्थ ८.२२ भाष्य : उत्तर प्रकृतिसु सर्वासु—मूल प्रकृत्यभिन्नासु न तु मूल प्रकृतिषु संक्रमो विद्यते,.....उत्तर प्रकृतिषु च दर्शन चारित्रमोहनीययोः सम्यग्मिथ्यात्व-वेदनीयस्यायुष्कस्य च..... ।

(ख) तत्त्वार्थ ८.२२, सर्वार्थसिद्धि :

—अनुभवो द्विधा प्रवर्तते स्वमुखेन परमुखेन च । सर्वासां मूलप्रकृतीनां

खंड १८, अंक ३ (अक्टू०-दिस०, ९२)

२११

स्वमुखेनैवानुभवः । उत्तरप्रकृतीनां तुल्यजातीयानां परमुखेनापि भवति आयु-
दर्शनं चारित्रमोहवर्जानाम् न हि नरकायुर्मुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा
विपच्यते । नापि दर्शनमोहश्चारित्रमोहमुखेन, चारित्रमोहो दर्शन
मोहमुखेन ।

१४. भगवती १,४ : हंता गोयमा ! नेरेइयस्स वा तिरिक्खमणुदेवस्स वा जे कडे पावे
कम्मे नरिथ तस्स अवेइत्ता मोक्खो.....एवं खलु मए गोयमा ! दुविहे कम्मे
पन्नत्ते ।
१५. भगवती १,४ : दुविहे कम्मे पन्नत्ते, तं जहा—
पएस कम्मे य, अणुभाग कम्मे य । तत्थ णं जं तं पएसकम्मं तं नियमा वे एइ, तत्थ
णं जं तं अणुभाग कम्मं तं अत्थे गइयं णो वेएइ ।
१६. भगवती, १.४ वृत्ति : प्रदेशा कर्मपुद्गला ।
जीवप्रदेशेष्वोत्प्रेताः तद्रूपं कर्म प्रदेश कर्म ।
१७. भगवती वृत्ति, १.४ : अनुभाग : तेषामेव कर्म प्रदेशानां संवेद्यमानताविषयो रसः
तद्रूपं कर्मोऽनुभाग-कर्म ।
१८. भगवती ५.५ ।
१९. ठाणं, ४.६०३ ।
२०. कर्म और पुरुषार्थ—महाप्रज्ञ, जिनवाणी 'कर्म विशेषांक' पृ० १०५ ।
२१. मनोविज्ञान और शिक्षा, पृ० १८३—डॉ० सरयू प्रसाद चौबे ।
२२. पातंजल योग सूत्र, २,३३ ।
२३. (क) दशवैकालिक ८.३९ :
(ख) शांत सुधारस, संवर भावना ८.३ ।

“किसी की कृपा से भला नहीं होता
किसी की अकृपा से बुरा नहीं होता
भला या बुरा होने का है तो होता है, अन्यथा नहीं।”

—संत अमिताभ

आचार्यश्री तुलसी की राजस्थानी भाषा-शैली

□ डॉ० मनोहर शर्मा

भारतवर्ष के इतिहास में राजस्थान का अपना विशिष्ट स्थान है। इस वीरभूमि के इतिहास-पुरुषों ने त्याग और बलिदान के जो आदर्श उपास्थित किए हैं, उन पर संपूर्ण भारत, गर्व का अनुभव करता है; परन्तु विडम्बना है कि राजस्थान के महाप्राण नर-नारियों का चरित्र-निर्माण करने वाले तत्त्व की ओर अभी तक देशवासियों का समुचित ध्यान नहीं गया है और इस प्रकार उस केन्द्र से भारतीय प्रजा को कोई लाभ प्राप्त नहीं हो रहा है। कहना न होगा कि वह प्रकाश-केन्द्र है—राजस्थानी भाषा और उसका साहित्य। यह साहित्य-सम्पत्ति अति-विस्तृत, वैविध्यपूर्ण एवं महिमामय है, जिसकी देश-विदेश के अनेक विद्वानों ने, साधारण जानकारी होने पर भी, मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।

राजस्थानी साहित्य का जो कुछ भी अंश साहित्य जगत् के सामने आ सका है, उससे सुधी-समाज को आनन्द-मिश्रित आश्चर्य अवश्य हुआ है; परन्तु वहाँ कोई खास-सक्रियता दृष्टिगोचर नहीं होती। विपुल परिणाम में राजस्थानी साहित्य पुराने ग्रन्थागारों के बस्तों में बन्धा पड़ा है और प्रकाश में आने की प्रतीक्षा में है।

राजस्थानी साहित्य का इतिहास पिछले लगभग एक हजार वर्षों की सीमा-अवधि में आता है। उत्तर कालीन अपभ्रंश से ही इसका प्रारंभ समझना चाहिए। उसका आदि-स्वरूप आचार्य हेमचन्द्र द्वारा अपने व्याकरण ग्रन्थ में संकलित उन बहुसंख्यक दोहों में दृष्टव्य है, जिनको कुछ विद्वानों ने “पुरानी हिन्दी” संज्ञा दी है परन्तु यथार्थ में वह “प्राचीन राजस्थानी” और “जूनी गुजराती” है। उसका सम्बन्ध भी प्राचीन राजस्थान एवं प्राचीन गुजरात के एकीकृत भूभाग से ही है।

राजस्थानी साहित्य के इतिहास को तीन भागों में बांटा जाता है—आरंभकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल। प्रतीत होता है कि आदिकालीन राजस्थानी का शौर्य-मूलक काव्य प्रायः मौखिक परम्परा पर अवस्थित होने के कारण विलुप्त सा हो गया है परन्तु तत्कालीन शीलप्रधान काव्य किसी रूप में अद्यावधि सुरक्षित है और वह जैन-धर्म एवं समाज से संबंधित है। इस विषय में अनेक ग्रंथ प्रकाश में आए हैं जैसे—भरतेश्वर बाहुबली घोर (वज्रसेन सूरी, संवत् ११२५ वि०), भरतेश्वर बाहुबली रास (शालिभद्र), जीवदया रास (आसगु), आबूरास (पाल्हण), रेवंतगिरी रास (विजयसेनसूरि), नेमिनाथ चउपई (विनयचंद्र सूरी) स्थूलिभद्र फागु (जिनपद्मसूरि), नेमिनाथ फागु (जयशेखर सूरी) आदि। इन काव्यों की संख्या बड़ी है परन्तु यहाँ

कुछ चुने हुए नाम ही प्रस्तुत किये गये हैं। इससे स्पष्ट होता है कि राजस्थानी भाषा साहित्य का प्रारंभ काल जैन कवि-कोविदों की रचनाओं से प्रकाशमान है और इसके संरक्षण में जैन-समाज का सराहनीय योगदान है।

इसी प्रकार मध्यकालीन राजस्थानी कवियों में बहुसंख्यक जैन-कवि प्रकाशमान हैं, जिनमें समय सुन्दर, हेमरतन, लब्धोदय, जिनहर्ष, धर्मवर्धन आदि सर्वज्ञात हैं और अत्यन्त समादृत हैं। वर्तमान काल में भी राजस्थानी भाषा साहित्य के उद्धार और उन्नयन में जैन विद्वान् संलग्न हैं उनकी संख्या भी कम नहीं है। उनकी प्रतिभा का सुफल राजस्थानी साहित्य-जगत् को सुलभ है। इन कवि-कोविदों में भारत विख्यात साहित्य संशोधक स्व० अग्रचन्द नाहटा, कविश्री कन्हैयालाल सेठिया एवं समीक्षक डॉ० किरण नाहटा के शुभ नाम सहज ही स्मरण हो आते हैं। इनके साथ ही संत-समाज में परम सम्मानित आचार्यश्री की राजस्थानी साहित्य साधना भी अविस्मरणीय है। आचार्यश्री द्वारा विरचित पांच राजस्थानी काव्य ग्रंथ—“कालूयशोविलास”, “माणक महिमा”, मगनचरित्र”, “डालिमचरित्र” और “चन्दन की चूटकी भली” इस विषय में प्रकाशमान हैं। इन पांचों काव्यों की भाषा शैली पर यहां संक्षिप्त चर्चा करने की चेष्टा की जाती है।

राजस्थानी भाषा के साथ आचार्यश्री का जो हार्दिक सम्बन्ध है, उसके विषय में आपका निम्न वक्तव्य ध्यान में रखने योग्य है—

“मेरे पास कुछ सुभाव आए कि ये व्याख्यान हिन्दी में होने चाहिए। इस तथ्य से मैं भी सहमत हूँ कि हिन्दी का अपना उपयोग है, पर इस रहस्य को अनावृत करने में मुझे कोई संकोच नहीं है कि राजस्थानी कविता में मेरा जो सहज प्रवाह है, हिन्दी में वह उतना सहज नहीं है। इसलिए मेरे अन्तःकरण में सहज स्फूर्त भावों की सहज अभिव्यक्ति राजस्थानी में ही हुई। अब इन्हें हिन्दी में रूपान्तरित करूँ तो वह सहजता नहीं रह पायेगी, इस दृष्टि से राजस्थानी भाषा में ही ‘चन्दन की चूटकी भली’ नाम से पाठको के हाथ में पहुँच रहे हैं।”

—(चन्दन की चूटकी भली, पूर्वर्ग, पृष्ठ : ३)

इसी क्रम में राजस्थानी भाषा के सम्बन्ध में आपकी निम्न अभिव्यक्ति भी सुधी पाठकों के लिए ध्यातव्य है—

तीन दशक पहिलां री प्यारी,
साधारण सी रचना म्हारी।
अलग-अलग प्रकरण ढालां ही,
हस्तलिखित प्रति पूठा मांही।
अब एकत्रीकरण कियो है,
नव रचना रो रूप दियो है।
बा ही राजस्थानी भाषा,
सीधी-सादी सरल खुलासा ॥

—(चन्दन की चूटकी भली, पृ०-३५)

आगे आचार्यश्री के काव्यों में से कुछ चुने हुए उद्धरण प्रस्तुत किए जाते हैं, जिनसे कि आपकी भाषा-शैली का स्वरूप पाठकों के सम्मुख स्पष्ट उजागर हो सके।

सर्वप्रथम मेवाड़ की प्राकृतिक छटा का स्वाभाविक चित्रण देखिये—

मोटा-मोटा है—शौल जठै,
 वृक्षावलियां स्यूं हर्या-भर्या,
 नदियां नालां रो पार नहीं,
 तालाब जमीं स्यूं जड्या पड्या ।
 मौसम-मौसम में लडालुम्ब,
 बै खेत खड्या लहरावै है,
 कोयलियां कूजै कुहुक कुहुक,
 पथिकां रो स्वागत गावै है ॥

—(मगन चरित्र पृ०-१)

इसके बाद उज्जैन की ऐतिहासिक महत्ता का वृत्तान्त देखिए—

वो वीर विक्रमादित हुयो,
 जिण रो जस मुलकां मुलक जियो ।
 वो सिद्धसेन को चमत्कार,
 जिनमत री जोत जगणी है ।
 मालव अवन्ति की राज्यभूमि,
 उज्जयणी पुरी पुराणी है ॥
 कवि कालिदास री कर्मभूमि,
 आषाढभूति री बोधभूमि ।
 आचार्य सुहस्ति विहार-भूमि,
 इतिहासकार री वाणी है ।
 मालव अवन्ति की राज्यभूमि,
 उज्जयणी पुरी पुराणी है ॥
 पढ़कर सम्राट् अशोकपत्र,
 खोई निज आंख कुणाल पुत्र ।
 सुत सम्प्रति उज्जयणीश हुयो,
 आ पुरातत्व स्यूं जाणी है ।
 मालव अवन्ति की राज्य भूमि,
 उज्जयणी पुरी पुराणी है ।

—(डालिम चरित्र, पृष्ठ ३)

इसी क्रम में जयपुर शहर की शोभा का अवलोकन कीजिए—

देख्या शहर अनेक, एक जयपुर री छठा निराली,
 वो जौहरी बाजार निहारो, चिहं ओर दृग् डाली ।

चोपड़ रो चोगान देख, चतुरां रो चित चकरावै,
 बडै भाग सौभाग शहर में, पावस-झड़ बरसावै ॥
 बण्यो हवाई 'हवामहल', त्यू 'त्रिपोलिया' दो तोरो,
 लम्बी-चौड़ी सड़कां में, हवै सागीडो जी सोरो ।
 'रामनिवास' बाग में 'सावण-माडूडो' सरसावै,
 बडै भाग सौभाग शहर में, पावस-झड़ बरसावै ॥
 'मोती डूंगर' रा महलां में, मोजीडो मन भीजै,
 'जन्तर-मन्तर' और नारंगड़, गीता में गाईजै ।
 ढलतो ही दीसै टाइम, जद 'गलतो' स्हामो आवै,
 बडै भाग सौभाग शहर में, पावस-झड़ बरसावै ॥

— (माणक महिमा, पृ०-२७)

अब आचार्यश्री के श्रीमुख से शिक्षा-वचन सुनिए—

वरण बिना वाणी यथा, बिना आभरण अंग,
 नग-सुवरण, व्याकरण बिन, विद्या है बिदरंग ।
 निरवद्या विद्या बिना, वरै न बुद्धि विकास ।
 हृद्या हृदय विमर्षणा, करै सुगुरु सव्यास ॥

— (कालूयशोविलास, पृ०-७२)

आगे तत्व बोध विषयक प्रवचन सुनिये—

हाथी अंकुश स्यूं नमै रे, पवि स्यूं पवंक चूर हुवै,
 छोटी दीपशिखा स्यूं छितितल, छायो तामस दूर हुवै,
 मोटापण रो मगरूर हुवै,
 ओ ही तो बडो कसूर हुवै,
 विजयी बिनम्र तप-शूर हुवै,
 हुवै इयां ऊंडी आलोचन तो जीवन रस पूर हुवै,
 अन्तर्मन शान्त सनूर हुवै ॥

चाहो जो अपणी उत्थान मान अभिमान निवारो रे,
 महाबल बाहूबल दृष्टान्त शांत-चित्त खूब विचारो रे ।

— (चन्दन की चुटकी भली, पृष्ठ-२९)

ऊपर आचार्यश्री के पांचों काव्य ग्रन्थों में से विभिन्न प्रकार के पांच अलग-अलग उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं, जिनकी भाषा शैली पर ध्यान देने से प्रकट होता है कि विषय के अनुसार आपकी भाषा साधारण सा रूप परिवर्तन करती है, जैसाकि उचित ही है । इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि आपने कहीं भी अपनी कविता को अनावश्यक रूप से अलंकारों से सजाने का कोई प्रयास नहीं किया है और न उसमें कहीं कल्पना की उड़ान ही दृष्टिगोचर होती है । फिर भी श्रुति-मधुरता हेतु अनुप्रास के प्रति आकर्षण अवश्य नजर आता है परन्तु वह भी अस्वाभाविक नहीं है । आपने यत्र-तत्र 'टाइम' तथा 'मगरूर' आदि शब्दों के प्रयोग से ही परहेज नहीं किया है । इसके साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि आपने "हृदय-विमर्षणा"

जैसे संस्कृत शब्दों को तोड़कर कहीं भी विद्रूप नहीं बनाया है।

इन सब छोटी-मोटी बातों को छोड़कर आचार्यश्री की भाषा के संदर्भ में एक विशेष तत्व पर जरा विस्तार से चर्चा करना आवश्यक है और वह है, राजस्थानी भाषा के वर्तमान साहित्यिक स्वरूप के सम्बन्ध में उठाई जाने वाली विचित्र समस्या, जिससे आज का राजस्थानी साहित्य-जगत् किसी अंश में चिन्तित है।

वर्तमान में राजस्थानी भाषा साहित्य के विकास और प्रचार-प्रसार हेतु अनेक संस्थाएँ स्थापित हैं। केन्द्रीय साहित्य अकादमी (नई दिल्ली) में राजस्थानी का भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साथ पूरा सम्मान है और वह भारत की एक साहित्यिक भाषा के रूप में समाहृत है। राजस्थान के विश्वविद्यालयों में राजस्थानी भाषा-साहित्य के अध्ययन की यथाविधि व्यवस्था है। बड़ी संख्या में आज राजस्थानी कवि-लेखक प्रतिष्ठापित हैं और गद्य तथा पद्य की विविध विधाओं में महत्वपूर्ण प्रकाशन सामने आ रहे हैं। बीकानेर में राजस्थानी भाषा की स्वायत्त-शासी अकादमी भी स्थापित है। छोटे-बड़े समारोह भी इस विषय में बराबर आयोजित होते ही रहते हैं। इतना सब होने पर भी लोगों के सामने एक सवाल कई बार उपस्थित होता है कि वर्तमान राजस्थानी भाषा का साहित्यिक स्वरूप क्या है ?

अवश्य ही यह सवाल ध्यान देने योग्य है यद्यपि वर्तमान राजस्थानी भाषा का एक सुन्दर और सुबोध साहित्यिक स्वरूप मौजूद है परन्तु अनेक राजस्थानी रचनाकार इस दिशा में एकमत नहीं हैं और उनके हृदय में अपनी मातृभाषा राजस्थानी के प्रति उत्कट प्रेम होने पर भी वे अपनी आंचलिक बोली के प्रति न्यूनाधिक मात्रा में मोहग्रस्त हैं। फलस्वरूप उनकी रचनाओं में भाषागत एकरूपता का अभाव रहता है। मेवाड़ के लेखक की राजस्थानी, बीकानेर के पाठक के लिए सर्वथा सुबोध प्रतीत नहीं होती। इसी प्रकार जयपुर के राजस्थानी रचनाकार की भाषा, मारवाड़ के पाठक के सामने दुर्बोध रहती है। हाडौती क्षेत्र का लेख शेखावाटी के पाठकों द्वारा कठिनाई से पढ़ा अथवा समझा जाता है। ऐसी स्थिति में विभिन्न अंचलों में विरचित राजस्थानी साहित्य का समग्र राजस्थान में समुचित उपयोग नहीं हो पाता। सभी प्रांतीय भाषाओं की अपनी-अपनी बोलियाँ हैं। यही स्थिति राजस्थानी भाषा की भी है। उसकी भी मारवाड़ी, मेवाड़ी, ढूँढाड़ी, मेवाती, बागड़ी आदि अनेक बोलियाँ हैं और वे सभी स्थानीय जनता के द्वारा बोलचाल में बड़े चाव से प्रयुक्त होती हैं, परन्तु समग्र राजस्थान के लिए एक सरल, सुबोध और व्याकरण-सम्मत साहित्यिक राजस्थानी भाषा का स्वरूप सामने होना आवश्यक है, जिसे संपूर्ण राजस्थान के साहित्यकार कम से कम अपनी गद्यात्मक रचनाओं में तो प्रयुक्त करने में कोई संकोच न करें और जो राजस्थान के निवासी पाठकों के साथ-साथ प्रवासी राजस्थानी पाठकों के लिए भी सहज सम्प्रेषणीय हो।

इस दिशा में कई बार सम्मेलन भी हो चुके हैं और उनमें कवि-लेखकों ने अपने अपने सुझाव भी दिए हैं। परन्तु वे प्रयोग में नहीं आ पाए हैं और राजस्थानी भाषा की एकरूपता का प्रश्न अभी खड़ा ही है। ऐसी स्थिति में आचार्यश्री तुलसी की

राजस्थानी भाषा मार्गदर्शन कर सकती है। भले ही लोग उसे हिन्दी के सन्निकट बतलावें। आपने अपनी रचनाओं में संस्कृत के तत्सम शब्दों का पूरी छूट के साथ प्रयोग किया है, जैसा कि भारत की अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं अर्थात् हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि के साहित्यकार करते हैं। इसी कारण उनका साहित्यिक स्वरूप बन पाया है और वे सभी प्रकार के सूक्ष्म भावों तथा गंभीर विचारों को प्रकट करने में समर्थ हैं। इसके बिना वैज्ञानिक एवं दार्शनिक विषयों का विवेचन होना संभव भी नहीं। इसी ताकत पर उनका स्कूली एवं कालेज पाठ्य-पुस्तकों में सहज-प्रवेश हो पाया है और अपने अपने क्षेत्र में लोकप्रिय ही नहीं, समादृत भी हैं।

आचार्य श्री तुलसी का राजस्थानी के प्रति इतना गहरा लगाव जैन समाज की पुरानी परम्परा के साथ जुड़ा हुआ है, जिसमें लोकभाषा के साथ-साथ लोकधुनों अर्थात् "देशियों" को भी पूरा महत्व दिया गया है। जन साधारण में शीलधर्म का प्रचार करने हेतु जनवाणी का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है, जिसके अभाव में कवि-कोविदों का प्रयास भी सफल नहीं हो पाता। राजस्थानी राजस्थान की लोकभाषा है। उसका दैनिक जीवन में अनेक बोलियों के रूप में, साहित्यिक क्षेत्र में समर्थ एकरूप में प्रयोग होता रहा है। वह सर्व-साधारण के लिए सुबोध भी है। उसके पास अपार साहित्य-सम्पत्ति है, जो अद्यावधि किसी प्रकार सुरक्षित भी हैं। इस संरक्षण में जैन-समाज का सदा से ही विशेष योगदान रहा है। वह अभिनन्दनीय है।

अब यह वांछनीय है कि जैन विश्व भारती जैसे व्यवस्थित एवं समर्थ संस्थान में राजस्थानी साहित्य के अध्ययन, अनुसंधान एवं प्रकाशन हेतु एक पूरा विभाग स्थापित किया जाए, जिससे कि राजस्थान के जैन-साहित्य के साथ-साथ राजस्थानी भाषा के साहित्य का भी समग्र विकास होने का एक सुन्दर तथा उपयोगी साधन सर्व-साधारण के सामने प्रकाशमान हो। ध्यान रखना चाहिए कि अद्यावधि राजस्थानी जैन साहित्य का पूरा लेखा-जोखा भी नहीं हो पाया है। अन्य कई स्थानों पर यह कार्य आंशिक रूप में हो रहा है, परन्तु जैन विश्व भारती को भी इस दिशा में आगे आने की नितान्त आवश्यकता है। आशा की जाती है कि इस दिशा में भी यह समादृत संस्थान पीछे नहीं रहेगा, जिसे आचार्यश्री तुलसी का आशीर्वाद प्राप्त है।

“भी भा रा ज म मा डा कालू, गुरू अष्टक दृग-सोड़ शयालू !
‘तुलसी’ सदा-सदा आभारी, सद्गुरू चरण-कमल बलिहारी !!”

प्रमाण-मीमांसा के परिप्रेक्ष्य में प्रमाण के लक्षण का विवेचन

□ कु० विनीता पाठक

विशद् ज्ञान अपरोक्ष कहलाता है। इसके विपरीत अविशद् ज्ञान को परोक्ष की संज्ञा दी गई है।^१ स्मृति प्रत्यभिज्ञा, अह, अनुमान, आगम इसके भेद हैं। स्मृति को पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। क्योंकि इसका अन्तर्भाव प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों में नहीं हो सकता। स्मृति इसलिए अप्रमाण नहीं है कि इसमें भी किसी प्रकार का विसंवाद नहीं होता। वह भी अपूर्वार्थग्राही एवं बाधक रहित ज्ञान है जैसे अनुमानादि।

जिनके मत में स्मृति प्रमाण नहीं है उनके यहां पूर्व ज्ञात साध्य-साधन सम्बन्ध और वाच्य-वाचक सम्बन्ध को अप्रमाणभूत् स्मरण से व्यवस्था न होने के कारण अनुमान और शब्द भी प्रमाण सिद्ध न हो सकेंगे। इस अवस्था में अनुमान और आगम से सिद्ध संवाद एवं असंवाद से प्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्षाभास की भी व्यवस्था नहीं होगी। फलस्वरूप सभी प्रमाणों का विलोप हो जाएगा। प्रमाण-व्यवस्था स्वीकार करने वाले सभी सम्प्रदायों को स्मृति को भी प्रमाण मानना आवश्यक है। स्मृति को प्रमाण रूप में ग्राह्य कर लेने पर अन्य दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत प्रमाण संख्या का नियम सिद्ध नहीं होता। लेकिन जैन दार्शनिकों को मान्य प्रमाण के दो भेदों प्रत्यक्ष और परोक्ष का नियम स्वतः सिद्ध होता है क्योंकि उनमें परोक्ष ऐसा व्यापक प्रमाण भेद है, जिसमें पर सापेक्ष होने वाले तर्क, प्राप्ति, प्रत्यभिज्ञा, स्मृति जैसे सभी प्रमाणों का समावेश सम्भव है।^१

मानव द्वारा जितने भी व्यवहार सम्पन्न होते हैं, उनके प्रति कारण है, बुद्धि। यह बुद्धिरूप ज्ञान दो प्रकार का होता है, प्रथमस्मृति दूसरा अनुभव रूप।^१ संस्कारमात्र से उत्पन्न होने वाला जो स्मरण ज्ञान है, वही स्मृति कहा जाता है। स्मृति से जिस ज्ञान का उदय होता है, उसका विषय पूर्वज्ञात रहता है। स्मृति की यह विशेषता है कि वह किसी नए विषय को प्रकाशित नहीं करती वरन् जो ज्ञात विषय हमारे संस्कार में छिपे पड़े रहते हैं वहीं संस्कारों का उद्घाटन होने पर हमारे ज्ञान में प्रकाशित होने लगते हैं। इसी-लिए संस्कार मात्र से उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्मृति है, ऐसा कहा जाता है।^१ स्मृति के लक्षण में संस्कार पद से भावना नामक संस्कार का ग्रहण किया गया है। मात्र संस्कारों का उद्बोधन ही स्मृति के प्रति हेतु नहीं है, अपितु आवरण, क्षयोपशम के सद्दृश्य दर्शनादि सामग्री के उपलब्ध होने पर स्मरण रूप ज्ञान का उदय होता है। प्रत्यभिज्ञा में स्मृति की अतिव्याप्ति के निवारण हेतु "संस्कार मात्र" इस पद को स्मृति के लक्षण

में स्वीकार किया गया है। क्योंकि प्रत्यभिज्ञा भी संस्कार जन्य ज्ञान है, यथा पूर्व में देखा गया घट जब पुनः कभी नेत्रों के सम्मुख आता है तब सदैव यह घट है, केवल इसी रूप में उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता वरन् उससे सम्बन्धित जो पूर्व संस्कार हमारे अन्दर छिपे रहते हैं, उनके उद्बोधन के फलस्वरूप यह वही घट है। इसका भी भान होता है। “स” “स्व” प्रत्यक्ष में इस अंश के सामने उपस्थित घट की पूर्वदृष्टता विदित होती है जो उसे संस्कार से उत्पन्न न मानने पर सम्भव नहीं है। “मात्र” पद का इसके लक्षण में समावेश कर देने से प्रत्यभिज्ञा में इसके लक्षण की अतिव्याप्ति की संभावना नहीं रहती है। कतिपय विद्वानों ने स्मृति के दो भेदों का उल्लेख किया है, प्रथम अप्रमुष्ट विषया और द्वितीय प्रमुष्ट विषया। स्मृति सदैव अनुभव का सर्वांश में अनुवर्तन नहीं करती। स्मृति अनुभव का अतिक्रमण कभी नहीं करती, अनुभव में न आए विषय को कभी ग्रहण नहीं करती, फिर भी यदा-कदा अनुभव के कुछ अंशों को छोड़कर भी उत्पन्न हो जाती है। यही प्रमुष्टाविषया स्मृति कही गयी है। इसका उदय उस स्थिति में होता है जब पूर्वानुभव द्वारा उत्पादित संस्कार के कुछ ही अंशों का उद्बोधन हो पाता है, कुछ का नहीं। अतः इस प्रवर पूर्वानुभव के पूर्ण और आंशिक अनुवर्तन के आधार पर अप्रमुष्ट विषया स्मृति उदित होती है।

स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभव कहा जा सकता है।¹⁴ ज्ञान को दो भागों में विभक्त किया गया है। स्मृति और अनुभव। इसीलिए “स्मृतिभिन्नत्वे सति ज्ञानत्वम्”¹⁵ लक्षण किया गया है। अनुभव के इस लक्षण में “स्मृतिभिन्नत्व” पद देने से स्मृति से इसका पृथक्त्व सिद्ध होता है। अनुभव भी यथार्थ और अयथार्थ के भेद से दो प्रकार का होता है। अर्थ के स्वरूप के विषय में होने वाला अनुभव यदि उसी रूप में होता है, वह यथार्थ अनुभव है। “यथार्थोऽर्थाविसंवादी”¹⁶ अर्थात् अर्थ के अनुरूप ज्ञान यथार्थ है। घट के विषय में जब “यह घट है” ऐसा भान होता है तब इस ज्ञान में “घटत्व” विशेषण है, अतः यह ज्ञान घटत्व प्रकारक कहलाता है। इस ज्ञान के विषय घट का हमें ज्ञान हो रहा है उसमें घटत्व विद्यमान है। अतः तद्वति—घटत्ववति=घटत्व से युक्त में, घटत्व प्रकारक अर्थात् घटत्व है विशेषण, जिसमें ऐसा ज्ञान होने के कारण यह यथार्थ अनुभव है।

उपयुक्त वर्णित यथार्थ अनुभव से भिन्न ज्ञान अयथार्थ अनुभव कहलाता है। उदाहरणार्थ—दूर से देखने पर शुक्ति में यह अनुभव होता है कि “यह रजत है।” लेकिन जिस शुक्ति में इस प्रकार का अनुभव हो रहा है, उसमें रजत्व का अभाव है, लेकिन अनुभव में रजत्व विशेषण है। अतः रजत्व के अभाव वाली शुक्तिका में “रजत” का अनुभव होने से अयथार्थ अनुभव है।

प्रत्यभिज्ञा

स्मृति के द्वारा प्रत्यक्ष होने पर यह वही है अथवा उसके सदृश्य है तथा किसी अर्थ के प्रति “यह वही है।” इस प्रकार के ज्ञान का नाम संज्ञा है उसी को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। प्रत्यभिज्ञा भी संस्कार जन्य ज्ञान है।¹⁷ यथा—पूर्व में देखा गया देवदत्त जब

कभी पुनः आंखों के सामने आता है, तब उसके विषय में “यह देवदत्त है” इतना ही परिचयात्मक प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु देवदत्त के पूर्वदर्शन सम्बन्धी जो संस्कार डाल रखा है उसके उद्बुद्ध हो जाने से मात्र देवदत्त का ही नहीं वरन् “यह वही देवदत्त है” इस रूप में ज्ञान होता है। प्रत्यभिज्ञा में सम्मुख उपस्थित विषय की पूर्वदृष्टता भी विदित होती है। इसी कारण इसे संस्कार जन्य माना जाता है।

प्रत्यभिज्ञा न स्मृति है और न अनुभव, वरन् यह तीसरे प्रकार का जिसे अनुष्णा-शीत स्पर्श, उष्ण और शीत दोनों स्पर्शों से विजातीय स्पर्श के समान अस्मरणानुभव-स्मृति और अनुभव दोनों ज्ञानों से विजातीय ज्ञान में माना जाता है इस रूप में बुद्धि अथवा ज्ञान तीन भेदों में विभक्त हो जाता है स्मृति, अनुभव और प्रत्यभिज्ञा इस क्रम से इनके लक्षण होंगे “संस्कार मात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः”, ‘संस्कारजन्यं ज्ञानं अनुभवः’ ‘संस्कारेन्द्रियोभयजन्यं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा ।’ अतएव जो ज्ञान संस्कार एवं इन्द्रिय दोनों से उत्पन्न हो उसे प्रत्यभिज्ञा कहने हैं। कुछ दार्शनिक लोकानुभव के आधार पर प्रत्यभिज्ञा को अनुभव की श्रेणी में रख प्रत्यक्ष में उसका अन्तर्भाव मानते हैं। यह उचित नहीं है। प्रत्यभिज्ञा ज्ञान के दो भेद हैं—

१. एकत्वप्रत्यभिज्ञान

२. सादृश्यप्रत्यभिज्ञान ।

प्रथम के अन्तर्गत “वही यह है” इस प्रकार का ज्ञान होता है एवं “उसी के समान यह है” इस सादृश्यविषयक बोध सादृश्यप्रत्यभिज्ञा कही जाती है। ‘वही’ से अतीत काल के विषय को ग्रहण किया जाता है।

जिस प्रकार शुक्ल शंख में होने वाला पीत ज्ञान शुक्लशंख में ही हुए शुक्लज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा बाधित हो जाने से अप्रमाण है किन्तु पीतवर्ण के सुवर्णादि में होने वाला पीतज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है इसी प्रकार अपने उसी पुत्र में ही “यह उसके समान है।” इस प्रकार का होने वाला सादृश्यविषयक ज्ञान “वही यह है” इस एकत्वविषयक प्रत्यभिज्ञा से बाधित होने से अप्रमाण है, किन्तु अपने पुत्र के समान ही किसी दूसरे के पुत्र में ‘वैसा ही यह है।’ इस प्रकार का होने वाला प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण नहीं है किसी अन्य ज्ञान से बाधित न होने के कारण।

निष्कर्ष यह है कि जिस-जिस ज्ञान से वस्तु को जानकर उसमें प्रवृत्त हुए पुरुष को अर्थक्रिया में किंचित् भी विसंवाद नहीं होता वह ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान के समान प्रमाण है। इसी प्रकार स्मरण और प्रत्यभिज्ञान से विषय को ज्ञातकर प्रवृत्त हुए पुरुष को विसंवाद नहीं होता अतः दोनों प्रमाण हैं तथा अविशद होने से वे परोक्ष हैं, जैसे अनुमान।

सन्दर्भ सूची

१. अविशदः परोक्षम् । प्र० मी० अ० आ० २, सू० १ ।

खण्ड १८, अंक ३, (अक्टू-दिस०, ९२)

२. प्र० प०, पृ० ६६ ।

३. “सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिज्ञानम् । सा द्विविधास्मृतिरनुभवश्च ।”

—तर्कसंग्रहः, पृ० १०० ।

४. “संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः ।” तर्कभाषा, प्र० प० नि०, पृ० २२
वासनोद्बोधहेतुका तदित्याकारा स्मृतिः ।” प्र० मी०, पृ० ३६ ।

५. “तद् भिन्नं ज्ञानमनुभवः ।” तर्कभाषा, स्मृति निरूपण ।

६. तर्कसंग्रह, प्रमा प्रकरण ।

७. तर्कभाषा-केशवमिश्र, द्र० बुद्धि प्रकरण ।

८. “दर्शनस्मरणसम्भवं तद्देव तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादिसंकलनं
प्रत्यभिज्ञानम्” । प्र० मी०, अ० । आ २ पृ० ३८ तर्कभाषा, स्मृति प्रकरण ।

९. “सम्बंधं वर्तमानं च गुह्यते चक्षुरादिना ।” श्लोकता० सू० ४, श्लोक ८४

अणुव्रत और गुणव्रत

‘पांच अणुव्रत धारतां, मोटी बांधी पाल ।

छोटा री अव्रत रही, ते पाप आवे दगचाल ॥

तिण अव्रत ने मेटवा भणी, पहलो गुणव्रत देख ।

दिशि मर्यादा मांडनै, टाले पाप विशेष ॥

मांहिली अव्रत मेटवा, दूजो गुणव्रत धार ।

द्रव्याधिक त्याग न करे, भोगादिक परिहार ॥

जे द्रव्याधिक राखिया, जेहनी अव्रत जाण ।

अर्थ दण्ड छूटे नहीं, अनर्थ दण्ड पचखाण ॥”

—संत भीखणजी

जैन प्रमाण-मीमांसा में स्मृति प्रमाण

राजवीरसिंह शेखावत

यद्यपि जैन दार्शनिकों ने बौद्धों की तरह ज्ञान को प्रमाण माना है, जैसा कि कहा गया है, 'ज्ञानं प्रमाणम्, प्रमाणं ज्ञानम्' अर्थात् ज्ञान ही प्रमाण है। प्रमाण ही ज्ञान है^१ किन्तु ध्यातव्य है कि बौद्धों तथा जैनों का प्रमाण या ज्ञान की अवधारणा में मतैक्य नहीं है।^२ जैन दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान आत्मा का नित्य धर्म है^३ और जानना उसका स्वभाव है।^४ शुद्ध आत्मा को ज्ञान के लिए किसी प्रकार के साधन या माध्यम की आवश्यकता नहीं रहती है, किन्तु आत्मा पर कर्मों का आवरण आ जाने से ज्ञान में न्यूनता आ जाती है, जिससे वह ज्ञान के लिए विभिन्न साधनों या माध्यमों पर अपेक्षित हो जाती है। ज्ञान के इन साधनों के विषय नियत है,^५ जिसके कारण एक साधन दूसरे साधन के ग्राह्य विषय को ग्रहण नहीं कर सकता है, जैसे चक्षु द्वारा रूप का ज्ञान होता है शब्द आदि का नहीं। ज्ञान के इन साधनों या माध्यमों में ज्ञानेन्द्रियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्यार्थ को जाना जाता है। जो हमारे ज्ञान के विषयों का बहुत बड़ा भाग है। किन्तु हमारा ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों एवं उनके विषयों तक ही सीमित नहीं है। ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान से हमारे मनस् में उस ज्ञान से सम्बन्धित संस्कार रह जाता है, जिसका समय-समय पर उद्बोधन होता रहता है जिससे पूर्व ज्ञान का स्मरण हो जाता है। संस्कारों के उद्बोधन से होने वाले ज्ञान को मनोवैज्ञानिक भाषा में 'स्मृति' कहा जाता है। यहां प्रश्न है कि क्या संस्कारों के उद्बोधन से होने वाले ज्ञान को, ज्ञान की कोटि में रखा जा सकता है? ऐसा ज्ञान यथार्थ ज्ञान है या अयथार्थ? क्या इसे प्रमाण माना जा सकता है? यदि प्रमाण माना जाए तब उसके प्रमाण होने का आधार क्या है? यह किसको विषय बनाता है तथा किसकी सत्ता को सिद्ध करता है? इसका फल क्या है? आदि। इन प्रश्नों के सन्दर्भ में सभी भारतीय दार्शनिकों के विपरीत जैन दार्शनिकों ने 'स्मृति' को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया तथा प्रमाण मीमांसा में एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया।

प्रश्न उठता है कि जैन प्रमाणमीमांसा में 'स्मृति' का स्वरूप क्या है? स्मृति के स्वरूप को बतलाते हुए माणिक्यनन्दि^६ ने कहा कि "पूर्व संस्कार की प्रकटता से होने वाला तथा 'वह देवदत्त' इस आकार वाला ज्ञान 'स्मृति' है।" इस लक्षण को स्वीकार करते हुए वादिदेव सूरि^७ ने 'पहले जाने हुए पदार्थ को जानने वाला' इस अर्थ को और जोड़ते हुए स्मृति का लक्षण किया कि "संस्कार के जागृत होने से उत्पन्न होने वाला, पहले जाने हुए पदार्थ को जानने वाला, 'वह' इस आकार वाला ज्ञान 'स्मृति' है, जैसे

‘वह तीर्थकर की प्रतिमा ।’ तत्पश्चात् हेमचन्द्र ने स्मृति का लक्षण किया कि “वासना की जागृति जिसमें कारण हो और ‘वह’ ऐसा जिसका आकार हो, वह ज्ञान ‘स्मृति’ है ।” यद्यपि हेमचन्द्र ने वादिदेव सूरि द्वारा किए गए स्मृति के लक्षण के ‘पहले जाने हुए पदार्थ को जानने वाला’ अंश को स्मृति के लक्षण में समाविष्ट नहीं किया । किन्तु उपर्युक्त स्मृति के लक्षणों में तथा हेमचन्द्र द्वारा किए गए लक्षण में कोई मौलिक भेद नहीं है, क्योंकि उपर्युक्त सभी लक्षणों में संस्कार की प्रकटता से होने वाले तथा ‘वह’ इस आकार वाले ज्ञान को स्मृति कहा गया है । इसके पश्चात् धर्मभूषण यति ने ‘वासना की जागृति जिसमें कारण हो’ इस अंश को हटाते हुए ‘पहले ग्रहण किए हुए पदार्थ को विषय करने वाला, अंश को स्वीकार करते हुए स्मृति का लक्षण किया कि “पहले ग्रहण किए हुए पदार्थ को विषय करने वाला तथा ‘वह’ जिसका आकार हो, उस ज्ञान को स्मृति कहते हैं ।”

यशोविजय^{१०} ने स्मृति के उपर्युक्त लक्षणों से भिन्न लक्षण किया । उसके अनुसार “अनुभवमात्र से उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्मृति है, जैसे ‘वह तीर्थकर की प्रतिमा ।” यशोविजय द्वारा किया गया यह लक्षण अस्पष्ट एवं संदिग्ध है, क्योंकि इसमें ‘अनुभव मात्र से उत्पन्न’ अंश का समावेश किया गया है, जो इसे अस्पष्ट बना देता है । किन्तु फिर भी, इस लक्षण को ‘अनुभव मात्र से उत्पन्न’ अंश के अर्थ को स्पष्ट करके समझा जा सकता है । ‘अनुभव मात्र से उत्पन्न’ के दो अर्थ हो सकते हैं—पहला, हमारी ज्ञानेन्द्रियों का वस्तुओं के साथ सम्बन्ध होने पर उत्पन्न होने वाला ज्ञान और दूसरा, अनुभव रूप धारणा अर्थात् इन्द्रिय प्रत्यक्ष स्मृति का निमित्त है, प्रत्यभिज्ञान आदि नहीं । पहले अर्थ को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि फिर इन्द्रिय प्रत्यक्ष और स्मृति में कोई भेद नहीं रह जायेगा । इसलिए दूसरे अर्थ को ही स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि वह अधिक युक्ति संगत प्रतीत होता है, क्योंकि इसको स्वीकार करने पर पूर्वोक्त लक्षणों में तथा इस लक्षण में कोई भेद नहीं रह जाता है और ‘वह तीर्थकर की प्रतिमा’ इस अंश का भी तर्क संगत सम्बन्ध बैठ जाता है ।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष—धारणा या संस्कार—जिस ज्ञान का निमित्त है तथा उसके—धारणा या संस्कार—जागृत होने पर होने वाला और अनुभूत अर्थ को विषय करने वाला तथा ‘वह’ जिसका आकार हो, स्मृति है । स्मृति के इस लक्षण का विश्लेषण करने पर स्मृति के पांच प्रमुख घटक प्रकाश में आते हैं, जिनसे स्मृति प्रक्रिया को सरलता से समझा जा सकता है । ये घटक एवं प्रक्रिया इस प्रकार से हैं—

अर्थ→अर्थ का अनुभव→धारणा या संस्कार→धारणा या संस्कार की जागृति→अनुभूत अर्थ का स्मरण ।

स्मृति प्रक्रिया में इन सभी घटकों का होना आवश्यक है । यदि इनमें से कोई एक या एक से अधिक घटक नहीं हो तो स्मृति संभव नहीं है । अर्थ नहीं हो तब अनुभव सम्भव नहीं हो सकता है और अर्थ का अनुभव नहीं हो तब उसकी स्मृति नहीं हो सकती है,^{११} क्योंकि अर्थ और अर्थ के अनुभव के बिना धारणा या संस्कार संभव

नहीं है। धारणा या संस्कार के बिना भी स्मृति संभव नहीं है, क्योंकि स्मृति धारणा या संस्कार से होती है, अवग्रह आदि से नहीं।¹⁸ धारणा होने पर भी यदि उसकी जागृति नहीं हो तब भी स्मृति संभव नहीं है,¹⁹ क्योंकि धारणा की जागृति के बिना ज्ञान अनुभूत अर्थ को विषय नहीं कर सकता है और धारणा की जागृति²⁰ कर्मों के आवरण के क्षय उपशम होने पर या सदृश अर्थ के दर्शन होने पर होती है।²¹ इसके पश्चात् अनुभूत अर्थ का स्मरण हो जाता है।

यहां प्रश्न होता है कि यह कैसे कहा जाए कि स्मृति प्रमाण है, अर्थात् स्मृति के प्रमाण होने का आधार क्या है? इसके जबाब में कहा गया है कि स्मृति आदि सभी परोक्ष प्रमाण, प्रमाण है, क्योंकि वे अपने-अपने विषय को विषय करने में 'स्व', 'पर' प्रकाशी और निर्वाधक हैं²² तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की तरह वह अविस्वादी हैं, क्योंकि स्वयं द्वारा स्थान विशेष पर रखी गई वस्तु विशेष की स्मृति के आधार पर तलाश करने पर वह उसी स्थान पर मिल जाती है, अर्थात् स्मृति के आधार पर प्रवृत्ति करने पर सफलता मिलती है, उसमें कोई विस्वादा नहीं होता है।²³ इसी समस्या का समाधान करते हुए प्रमेयकमलमार्तण्ड में कहा गया है कि विस्मरण, संशय और विपर्यय स्वरूप समारोप का निराकरण करने से स्मृति प्रमाण है।²⁴ दूसरे प्रमाण हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में समर्थ होता है अर्थात् जो ज्ञान हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में समर्थ हो, उसे प्रमाण मानना चाहिए। स्मृति से हित की प्राप्ति तथा अहित का परिहार होता है जैसे पूर्व काल में अग्नि से हाथ जल जाने पर भविष्य में हम स्मृति के आधार पर ही अग्नि को नहीं छूते हैं। यदि ऐसी स्मृति नहीं होती तो भविष्य में भी अग्नि को छूते, जिससे हाथ जल जाता और इस हाथ के जलते रूप अहित का परिहार नहीं कर सकते। इसी प्रकार स्मृति के आधार पर हित की प्राप्ति होती है, जैसे पूर्वकाल में कहीं रखी गई किसी उपयोगी वस्तु को स्मृति के आधार पर प्राप्त कर लेना। इससे सिद्ध होता है कि स्मृति प्रमाण है।

किन्तु जैन प्रमाण मीमांसा में प्रमाण के दो भेद—प्रत्यक्ष और परोक्ष—किए गए हैं।²⁵ तब प्रश्न होता है कि स्मृति को परोक्ष प्रमाण क्यों माना गया है? प्रत्यक्ष क्यों नहीं? जैन दार्शनिकों के अनुसार जो ज्ञान निर्मल और स्पष्ट है, वही प्रत्यक्ष है।²⁶ अर्थात् जिस ज्ञान की उत्पत्ति में किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा है, अर्थात् जिस ज्ञान की उत्पत्ति में प्रत्यक्षादि ज्ञान निमित्त हो वह परोक्ष प्रमाण है।²⁷ स्मृति के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वह निर्मल एवं स्पष्ट है तथा उसका कोई दूसरा ज्ञान निमित्त नहीं, अर्थात् स्मृति उत्पत्ति में स्वतंत्र नहीं है, अपितु दूसरे ज्ञान—धारणा रूप प्रत्यक्ष—पर आश्रित है। अतः उसे प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता, परोक्ष ही माना जा सकता है।

पुनः प्रश्न होता है कि स्मृति के निमित्त—धारणा—का स्वरूप क्या है? इसके जबाब में कहा गया है कि कालांतर में न भूलने में जो कारण है, उसे 'धारणा' कहते हैं।²⁸ हेमचन्द्र ने धारणा का लक्षण किया कि जो स्मृति का कारण है, वह 'धारणा' है।²⁹ प्रमाण मीमांसा स्वोपज्ञ वृत्ति में धारणा को 'संस्कार' कहा गया है। ये संख्यात

या असंख्यात काल तक बनी रहती है। जैन दार्शनिकों के अनुसार धारणा के चार प्रमुख तत्त्व हैं, जिनके आधार पर धारणा की प्रक्रिया को निम्नलिखित रूप से समझा जा सकता है—

यहां प्रश्न है कि क्या 'धारणा' के अतिरिक्त भी कोई अन्य ज्ञान स्मृति का निमित्त है? इसके जवाब में कहा गया है कि स्मृति की उत्पत्ति में धारणा ही एक मात्र निमित्त है, कोई अन्य ज्ञान नहीं और इसकी उत्पत्ति में एक ही निमित्त होने तथा स्वयं का अन्य परोक्षप्रमाणों की उत्पत्ति में निमित्त होने के कारण इसको परोक्ष प्रमाणों के क्रम में सबसे पहले रखा गया है।

धारणा रूप इन्द्रिय प्रत्यक्ष को स्मृति का निमित्त मानने तथा उसी के विषय को स्मृति का विषय मानने पर प्रश्न होता है कि फिर स्मृति तथा इन्द्रिय प्रत्यक्ष में क्या भेद रह जाएगा। इसके समाधान में कहा गया है^{३६} कि स्मृति की उत्पत्ति में धारणा रूप इन्द्रिय प्रत्यक्ष निमित्त है, जबकि प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में चक्षु आदि इन्द्रिय निमित्त हैं। दूसरे, स्मृति 'वह' स्वरूप वाली है और प्रत्यक्ष 'यह' स्वरूप वाला। तीसरे, स्मृति का विषय अनुभूत अर्थ है, जबकि प्रत्यक्ष का विषय वर्तमान अर्थ है। चौथे, प्रत्यक्ष स्मृति की उत्पत्ति में निमित्त है, जबकि स्मृति प्रत्यक्ष का फल है।

पुनः प्रश्न होता है कि स्मृति का फल क्या है? ज्ञान की उत्पत्ति क्रम में पूर्व-पूर्व ज्ञान प्रमाण है और उत्तर-उत्तर ज्ञान फल,^{३७} अर्थात् जिस प्रकार प्रत्यक्ष का फल स्मृति है उसी प्रकार स्मृति का फल 'प्रत्यभिज्ञान'^{३८} है। दूसरे, प्रमाण के दो फल बतलाए हैं—साक्षात्फल और पारम्पर्यफल।^{३९} अज्ञान की निवृत्ति साक्षात्फल है और परम्परा से प्राप्त होने वाला पारम्पर्यफल। स्मृति द्वारा अनुभूत अर्थ को प्रकाशित कर देना साक्षात्फल है और हितकर वस्तु को प्राप्त करा देना तथा अहितकर वस्तु को त्याग देना, परम्परा से प्राप्त होने वाले फल हैं।

ध्यातव्य है कि सभी स्मृति ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं होते हैं, क्योंकि कई बार जिस विषय का पूर्व काल में कभी अनुभव नहीं हुआ है, ऐसा विषय भी अमवश हमारे ज्ञान का विषय बन जाता है या जिस अर्थ का पूर्व काल में अनुभव हुआ है, उसी अर्थ को विषय नहीं करके उसके सदृश किसी अन्य अर्थ को विषय कर लेता है। तब ऐसे ज्ञान को स्मृति ज्ञान नहीं कहकर 'स्मृत्याभास' कहते हैं। वादिदेव सूरि ने स्मृत्याभास का स्वरूप बतलाया है कि "जिसका पहले अनुभव नहीं हुआ हो उस वस्तु या विषय में 'वह' ऐसा ज्ञान हो जाना स्मृत्याभास है, जैसे जिस मुनि-मण्डल का पहले अनुभव नहीं हुआ हो उसमें 'वह मुनि-मण्डल' ऐसा ज्ञान होना।"^{४०}

जैन दार्शनिकों के अतिरिक्त सभी भारतीय दार्शनिकों ने स्मृति को अप्रमा तथा अप्रमाण माना है। स्मृति को अप्रमाण कहने का मुख्य आधार उसका 'गृहीग्राही होना' है,^{४१} अर्थात् वह उसी अर्थ को अपना विषय बनाती है, जिसको पहले जाना हुआ है। फलतः उस अर्थ को वह कोई विशेष रूप से नहीं जानती अर्थात् उस ज्ञान में कोई नवीनता या अपूर्वता का अंश नहीं होता है, अपितु जो पहले जाना गया है उतना ही या उससे भी कम जानता है।

प्रभाकर के भाष्यकार शालिकनाथ^{१०} ने स्मृति को अप्रमाण मानने का कारण बतलाया है कि स्मृति किसी अन्य अनुभूति के संस्कारों से उत्पन्न होती है, अर्थात् स्मृति इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं होती है। फलतः उसमें पूर्वज्ञान की पुनरावृत्ति होती है।

यद्यपि नैयायिकों ने स्मृति को प्रमाण नहीं माना है, किन्तु उनका मत है कि स्मृति को अप्रमाण सिद्ध करने के लिए नवीनता या अनधिगतता को लाना न तो आवश्यक है और न ही न्यायसंगत, क्योंकि ऐसा मानने पर धारावाहिक ज्ञान की युक्तिसंगत व्याख्या नहीं हो सकती है। जयन्त^{११} स्मृति को अप्रमाण सिद्ध करने के लिए 'अर्थ से उत्पन्न न होना' को लाते हैं। उसका मत है कि स्मृति की उत्पत्ति अर्थ से न होकर पूर्व ज्ञान के संस्कारों से होती है।

बौद्धों का आक्षेप है^{१२} कि स्मृति का न तो कोई स्वरूप है और न ही विषय। तब, ऐसी स्थिति में स्मृति को प्रमाण मानना युक्तिसंगत नहीं है। बौद्धों का प्रश्न है कि स्मृति से आपका क्या तात्पर्य है। ज्ञान मात्र को स्मृति कहते हैं या अनुभूत अर्थ को विषय करने वाले ज्ञान को? यदि ज्ञान मात्र को स्मृति कहते हैं, तब तो सभी ज्ञान—प्रत्यक्षादि—स्मृति कहे जाएंगे जो युक्तिसंगत नहीं है। दूसरे, यदि पहले अनुभव किए हुए अर्थ को विषय करने वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं, तब देवदत्त जिस अर्थ को स्मृति से जानता है उसी अर्थ को यज्ञदत्त प्रत्यक्ष से जान रहा होता है, तब वह भी स्मृति कहा जाएगा जो कि तर्क संगत नहीं है।

बौद्धों का दूसरा प्रश्न है कि स्मृति किसको विषय करती है? अर्थ मात्र को विषय करती है या जिसका पहले अनुभव किया जा चुका है उस अर्थ को। यदि अर्थ मात्र को विषय करती है तब तो सभी प्रमाण स्मृति हो जाएंगे और यदि अनुभूत अर्थ को विषय करती है, तब उसी वस्तु या अर्थ को जब कोई अन्य व्यक्ति प्रत्यक्ष या धारावाही ज्ञान से जानता है, तब वे ज्ञान भी स्मृति कहे जाएंगे।

उपर्युक्त आक्षेपों के अतिरिक्त पूर्व पक्ष की ओर से स्मृति की प्रमाणता पर दो अन्य आक्षेप भी किए जाते हैं। पहला, स्मृति वर्तमान में प्रत्यक्ष या अनुभव किए जा रहे अर्थ को विषय नहीं करती है, अपितु अनुभूत अर्थ को विषय करती है और जो अर्थ पूर्व काल में था, उसकी वर्तमान काल में कोई सत्ता नहीं रहती है। अतः स्मृति निर्विषय है।^{१३} फलतः उसे प्रमाण स्वीकार नहीं किया जा सकता है। दूसरा, स्मृति अनुभव के अधीन है अर्थात् जिस अर्थ का पहले अनुभव नहीं हुआ है, उसका स्मरण भी नहीं हो सकता है। इस प्रकार पराधीन होने से वह प्रमाण नहीं है।^{१४}

इन आक्षेपों का परिहार करते हुए जैन दार्शनिकों का कहना है कि यह कहना कि स्मृति ग्रहीत को ग्रहण करने के कारण प्रमाण नहीं है, युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि स्मृति गृहीतग्राही होते हुए भी उसमें नवीनता या अपूर्वता का अंश है, जैसे ईहा ज्ञान अवग्रह ज्ञान के द्वारा ग्रहण किए गए विषय को ही अपना विषय बनाता है, फिर भी उसमें कुछ नवीनता या अपूर्वता रहती है। उसी प्रकार धारणा रूप इन्द्रिय प्रत्यक्ष

द्वारा ग्रहण किए गए विषय को ही विषय करने पर भी उसमें कुछ नवीनता रहती है, क्योंकि धारणा रूप इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय 'यह' ऐसा होता है जबकि स्मृति का विषय 'वह' ऐसा होता है तथा अपने विषय में होने वाले अस्मृति आदि समारोपों को दूर करती है।^{१५}

कुछ समय के लिए इस समाधान को न भी मानें, तब भी यह आक्षेप निराधार है, क्योंकि 'ग्रहीतग्राही' का अर्थ होता है, जो ज्ञाता जिस अर्थ विशेष को जिस काल-विशेष, देश-विशेष और संदर्भ-विशेष में जिस साधन या माध्यम से जानता है, उसी साधन या माध्यम से वही ज्ञाता पुनः उसी अर्थ-विशेष को उसी काल-विशेष, देश-विशेष संदर्भ-विशेष में जाने या ग्रहण करे। किन्तु न तो ऐसा संभव है और न ही यह स्मृति पर लागू होता है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रत्येक घटना और अर्थ में नवीनता एवं अपूर्वता का अंश होता है। अतः सिद्ध होता है कि स्मृति 'ग्रहीतग्राही' नहीं है और ग्रहीतग्राही नहीं होने के कारण उसमें नवीनता या अपूर्वता का अंश ही नहीं, अपितु नवीनता या अपूर्वता को पूर्ण रूप से लिए हुए होती है।

जयन्त का यह कहना भी युक्ति संगत नहीं है कि अर्थ से उत्पन्न नहीं होने के कारण स्मृति अप्रमाण है, क्योंकि 'अर्थ से उत्पन्न होने' को प्रमाणता का आधार नहीं माना जा सकता है। प्रमाणता का आधार 'अविसंवाद' को ही माना जा सकता है। यदि कुछ समय के लिए अर्थ से उत्पन्न होने को प्रमाणता का आधार मान भी लें, तब भूत और भविष्य को विषय करने वाले अनुमान भी अप्रमाण होंगे।^{१६}

शालिक नाथ एवं जयन्त के इन आक्षेपों कि स्मृति इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष एवं अर्थ से उत्पन्न नहीं होती है, पर विचार करने पर ये तर्कसंगत नहीं बैठते, क्योंकि यहां प्रश्न होता है कि 'अर्थ' से आपका क्या तात्पर्य है? अर्थ से आपका तात्पर्य भौतिक अर्थ से है या मानसिक अर्थ से या दोनों से। यदि अर्थ का तात्पर्य भौतिक अर्थ से है तब गणितीय ज्ञान, ज्यामितीय ज्ञान, ज्योतिषीय ज्ञान आदि ज्ञान न तो इन्द्रिय और सन्निकर्ष से होते हैं और न ही भौतिक अर्थ से। तब ये समस्त ज्ञान (अयथार्थ) ज्ञान की श्रेणी में आ जाएंगे, जो न्यायोचित नहीं है। दूसरे, जो ज्ञान सन्निकर्ष या भौतिक अर्थ से उत्पन्न नहीं होता है, वह अयथार्थ ज्ञान है। तब ऐसी स्थिति में उन विषयों की सत्ता को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, जो इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, अर्थात् जो भौतिक अर्थ के रूप में नहीं है, उसकी कोई सत्ता है। किन्तु ऐसी स्थिति में मीमांसकों के 'वेद' तथा नैयायिकों के 'ईश्वर' एवं 'सामान्य' की कोई सत्ता नहीं रह जाती है। तीसरे सुख-दुःख का ज्ञान किस भौतिक अर्थ से उत्पन्न होता है? बुद्धि किस भौतिक अर्थ को विषय बनाती है? चौथे, प्रभाकर मीमांसकों ने 'अर्थापत्ति' को प्रमाण माना है। तब वह भी प्रमाण नहीं हो सकता है, क्योंकि अर्थापत्ति ज्ञान में विषय और इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं होता है।

यदि अर्थ का तात्पर्य मानसिक अर्थ से है, तब समस्त भौतिक विषयों के ज्ञान को अयथार्थ ज्ञान एवं इन्द्रिय प्रत्यक्ष को अप्रमाण मानना होगा। तीसरे अर्थ में, अर्थ का तात्पर्य दोनों अर्थों से—भौतिक एवं मानसिक अर्थ—हो सकता है। किन्तु ऐसा मानने

पर स्मृति प्रमाण सिद्ध होती है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति मानसिक अर्थ से होती है ।

बौद्धों का यह आक्षेप कि स्मृति का कोई स्वरूप एवं विषय नहीं है तथा स्मृति को स्वीकार करने पर प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का लोप हो जाता है, तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि जैन दार्शनिकों के अनुसार स्मृति का अपना स्वरूप एवं विषय दोनों ही हैं, जो अन्य प्रमाणों से भिन्न है । स्मृति 'वह' स्वरूप वाली होती है तथा अनुभूत अर्थ को अपना विषय बनाती है, जबकि अन्य प्रमाण इस स्वरूप के नहीं होते हैं ।

दूसरे, बौद्धों के दोनों आक्षेपों पर विचार करने पर वे निराधार ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि जैन दार्शनिकों ने न तो ज्ञान मात्र को स्मृति कहा है और न ही वस्तु मात्र को स्मृति का विषय बताया । बौद्धों का यह आक्षेप कि एक ही वस्तु को जब कोई व्यक्ति स्मृति से जान रहा होता है, तभी उसी वस्तु को कोई अन्य व्यक्ति प्रत्यक्ष से जानता है, तब उसका प्रत्यक्ष भी स्मृति हो जाएगा जो युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर जब आप किसी विषय वा अर्थ को अनुमान से जानते हैं, तब उसी विषय को कोई अन्य व्यक्ति उसी समय, जिस समय आप अनुमान से जानते हैं, प्रत्यक्ष से जानता है तो प्रत्यक्ष भी अनुमान हो जाएगा । दूसरे, ऐसा स्वीकार करने पर किसी भी प्रमाण की सत्ता नहीं रह पाएगी, क्योंकि एक ही वस्तु को जब भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रमाणों से जानेंगे तब सभी प्रमाण एक दूसरे प्रमाण में गर्भित हो जाएंगे । ऐसी स्थिति में प्रमाण मान भी लें, तब एक से अधिक प्रमाण कहने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है । तीसरे, जब प्रत्यक्ष को स्मृति कह सकते हैं, तब स्मृति को भी प्रत्यक्ष कह सकते हैं । किन्तु ऐसी स्थिति में प्रमाणों में कोई भेद नहीं रह जाएगा । यदि भेद माना भी जाए, तब उनमें भेद करना कठिन हो जाएगा, क्योंकि प्रत्यक्ष को स्मृति कह रहे हैं और स्मृति को प्रत्यक्ष तथा यह भी निश्चित करना कठिन हो जाएगा कि कौनसा प्रमाण है और कौनसा अप्रमाण । चौथे, यदि एक ही विषय में एक से अधिक प्रमाणों की प्रवृत्ति मानी जाए तब 'प्रमाणसंप्लव' दोष होता है ।

स्मृति निर्विषय है, इस आक्षेप का परिहार करते हुए कहा गया है कि स्मृति निर्विषय नहीं है, क्योंकि उसका विषय 'अनुभूत अर्थ' होता है । अब यदि अनुभूत अर्थ को विषय करने पर भी उसे निर्विषय कहकर अप्रमाण कहते हैं, तब प्रत्यक्ष भी जब अनुभूत अर्थ को विषय करता है, अप्रमाण होगा, जो युक्ति संगत नहीं है ।¹⁴ दूसरे, स्मृति को पराधीन होने के कारण अप्रमाण कहते हैं, तब अनुमान भी अप्रमाण है, क्योंकि वह व्यापित ज्ञान—तर्कप्रमाण—के अधीन है ।¹⁵

दूसरे, यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि जिस प्रमाण का विषय वर्तमान काल में नहीं होता है, वह अप्रमाण है । तब प्रत्यक्ष भी संभव नहीं है, क्योंकि जिस समय इन्द्रिय का वस्तु के साथ सम्बन्ध होता है उस समय प्रत्यक्ष नहीं होता है और जिस समय प्रत्यक्ष होता है उस समय वह वस्तु नष्ट हो चुकी होती है । दूसरे, अनुमान भी संभव नहीं है, क्योंकि अनुमान हेतु को देखकर किया जाता है और हेतु को देखकर उसके कारण अर्थात् जिससे हेतु उत्पन्न है उसका निर्णय करते हैं, तब तक वह नष्ट हो चुका होता है, क्योंकि जो भी वस्तु उत्पन्न होती है वह कुछ न कुछ नष्ट करके ही

उत्पन्न होती है और जो हेतु उत्पन्न होता है वह अवश्य ही अपने आधार को नष्ट कर देता है। ऐसी स्थिति में अनुमान भी निविषय हो जाता है। दूसरी ओर स्मृति का विषय भूतकाल में नहीं, अपितु वर्तमान काल में होता है, क्योंकि स्मृति की उत्पत्ति मानसिक अर्थ से होती है जो भूतकाल एवं वर्तमान काल दोनों कालों में है। तीसरे, स्मृति को पराधीन कह कर अप्रमाण माना गया है। स्मृति को पराधीन कहने का कारण है, उसका किसी निमित्त से उत्पन्न होना अर्थात् जो ज्ञान किसी निमित्त से उत्पन्न नहीं है, वह पराधीन नहीं है। जो पराधीन नहीं है, वही प्रमाण है। किन्तु ऐसा कौन सा प्रमाण है, जो किसी भी निमित्त से उत्पन्न नहीं है? ऐसी स्थिति में ऐसे सभी प्रमाण, जो किसी निमित्त से उत्पन्न होते हैं, अप्रमाण सिद्ध होते हैं।

मीमांसकों, नैयायिकों एवं बौद्धों द्वारा जैन दर्शन में स्वीकृत स्मृति पर लगाए गए आक्षेप निराधार ही नहीं, अपितु उनके द्वारा माने गए यथार्थ ज्ञान के मापदण्ड के आधार पर स्मृति यथार्थ ज्ञान भी सिद्ध होती है। मीमांसकों ने यथार्थ ज्ञान के तीन मुख्य मापदण्ड, 'निश्चितता', 'नवीनता' एवं 'अबाधिता', माने हैं। अर्थात् जिस ज्ञान में निश्चितता, नवीनता, एवं अबाधिता हो वह यथार्थ ज्ञान है, अन्यथा अयथार्थ। स्मृति में तीनों तत्त्व हैं, क्योंकि स्मृति में संशय, विपर्यय और विस्मरण रूप समारोप का निराकरण होने से निश्चितता है। अर्थात् उसमें कोई संशय नहीं रहता है। ग्रहीतग्राहिता संभव नहीं होने के कारण उसमें नवीनता है, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। वह किसी दूसरे ज्ञान से बाधित भी नहीं होती है। यदि किसी स्मृति ज्ञान में ये तीनों तत्त्व नहीं हो, तब वह स्मृति नहीं अपितु स्मृत्याभास है।

नैयायिकों ने 'यथार्थता' एवं 'प्रयोजनपूरकता' को यथार्थ ज्ञान के मुख्य मापदण्ड स्वीकार किए हैं। यथार्थ ज्ञान के इन मापदण्डों से स्मृति ज्ञान भी यथार्थ ज्ञान सिद्ध होता है, क्योंकि स्मृति अनुभूत अर्थ को उसी रूप में, जिस रूप में वह है, ग्रहण करती है, भिन्न रूप में नहीं। यदि वह उसे भिन्न रूप में या उसके स्थान पर किसी अन्य विषय को ग्रहण करती है, तब वह स्मृति नहीं कही जाती, अपितु स्मृत्याभास कहा जाता है। दूसरे, स्मृति से हमारे प्रयोजन की पूर्ति भी होती है, क्योंकि अधिकतर मानवीय व्यवहार इसी के आधार पर होते हैं। बौद्धों ने 'अविसंवादक' ज्ञान को यथार्थ ज्ञान या सम्यक् ज्ञान कहा है। जो अनुभव से बाधित न हो तथा ज्ञात वस्तु को प्राप्त करा दे वह 'अविसंवादक' है। स्मृति अनुभव से बाधित भी नहीं होती तथा ज्ञात वस्तु को प्राप्त भी करती है। अतः सिद्ध होता है कि स्मृति प्रमाण है।

दूसरी ओर जैन दार्शनिकों द्वारा की गई स्मृति की व्याख्या भी निर्दोष नहीं है, क्योंकि जैन दार्शनिकों के अनुसार स्मृति की उत्पत्ति में 'धारणा' एक मात्र निमित्त है और धारणा निमित्त होने के कारण स्मृति उन्हीं विषयों की हो सकती है, जिनका पहले इन्द्रिय प्रत्यक्ष हुआ हो, क्योंकि धारणा की उत्पत्ति मात्र इन्द्रिय प्रत्यक्षों में मानी गई है। किन्तु हमारे ज्ञान का एक बहुत बड़ा भाग जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष से सम्भव नहीं, जैसे गणितीय ज्ञान, ज्यामितीय ज्ञान, ज्योतिषीय ज्ञान आदि, उसकी स्मृति संभव है या नहीं? यदि संभव है तब उसे स्मृति कहा जाए या कुछ और। अर्थात् उस ज्ञान की

स्मृति, जो प्रत्यक्ष से नहीं होता है, स्मृति है या नहीं? जो भौतिक अर्थ से उत्पन्न अनुभव की स्मृति से भिन्न स्मृति है उसे स्मृति कहा जाए या नहीं, जैसे स्वप्न की स्मृति, स्मृति की स्मृति आदि। जैन दार्शनिकों द्वारा किए गए स्मृति के लक्षणों में इन स्मृति ज्ञानों का अन्तर्भाव नहीं होता है। अतः स्मृति का लक्षण 'अव्याप्ति दोष' से प्रस्त है।

दूसरे, सभी जैन दार्शनिकों के अनुसार स्मृति 'वह' आकार वाली है। यदि स्मृति के इस स्वरूप को स्वीकार किया जाए तब इसमें 'अतिव्याप्ति दोष' आता है, क्योंकि 'वह' आकार स्मृति का ही नहीं होता है, अपितु प्रत्यक्षादि का भी होता है। जब प्रत्यक्ष स्थान से निकटवर्ती वस्तु को विषय बनाता है, तब प्रत्यक्ष 'यह' आकार वाला होता है और जब स्थान से दूरवर्ती वस्तु को विषय बनाता है, तब प्रत्यक्ष 'वह' आकार वाला होता है।

तीसरे, यदि यशोविजय द्वारा किया गया लक्षण लें, तब उसमें 'असंभवदोष' आता है, क्योंकि उसके अनुसार अनुभव मात्र से उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्मृति है, जो स्मृति पर लागू नहीं होता है।

चौथे, स्मृति किसको विषय करती है? इसके जबाब में कहा गया है कि अनुभूत अर्थ को। अर्थात् जिसका पूर्व काल में अनुभव किया हुआ है, उसी अर्थ को स्मृति विषय बनाती है। यदि ऐसा स्वीकार किया जाए तब स्मृति और प्रत्यभिज्ञान दोनों प्रमाण एक हो जाएंगे, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान भी अनुभूत अर्थ को विषय करता है।

पांचवें, स्मृति में मात्र इन्द्रिय प्रत्यक्ष से उत्पन्न धारणा को ही निमित्त मानना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि अवधिज्ञान एवं मनःपर्याय ज्ञान से जाने गए विषयों को भी स्मृति अपना विषय बनाती है, जबकि इन दोनों ज्ञानों में धारणा की कोई भूमिका नहीं है। तब प्रश्न होता है कि पूर्वकाल में अवधिज्ञान तथा मनःपर्याय ज्ञान से जाने गए विषयों को जब स्मृति ज्ञान अपने विषय बनाता है तब उसका निमित्त क्या है? दूसरे जन दार्शनिकों की 'धारणा' की अवधारणा बहुत ही अस्पष्ट है, क्योंकि कहीं पर इसको संस्कार कहा गया है, कहीं पर ज्ञान और कहीं पर इन्द्रिय प्रत्यक्ष से प्राप्त ज्ञान को धारण करने को धारणा कहा गया है। किन्तु ये तीनों एक नहीं हो सकते।

अन्त में मैं उपर्युक्त समस्याओं के समाधान के रूप में तीन शब्दों, 'वह', 'अर्थ' एवं 'धारणा' का अर्थ स्पष्ट करते हुए स्मृति के स्वरूप को स्पष्ट करूंगा, जिससे शायद इन समस्याओं का समाधान हो सकता है।

'वह' शब्द दूर के पदार्थों की ओर संकेत करने वाला एक शब्द है, जो पदार्थों की दूरी बतलाता है। यह दूरी दो प्रकार की—दैशिक और कालिक—होती है। प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ जब 'वह' शब्द का प्रयोग किया जाता है, तब वह मात्र 'दैशिक दूरी' बतलाता है, जबकि स्मृति ज्ञान में प्रयुक्त 'वह' शब्द 'दैशिक' तथा 'कालिक' दोनों को बतलाता है, जिसमें 'कालिक दूरी' प्रधान है तथा 'दैशिक दूरी' गौण। इस भेद को ध्यान में रखने पर स्मृति में होने वाले 'अति व्याप्ति दोष' का निराकरण हो जाता है।

‘अर्थ’ से तात्पर्य है, जो कुछ भी, जिसे ज्ञान प्रकाशित करता है या कर सकता है, ‘अर्थ’ है। किन्तु जिसे भी ज्ञान प्रकाशित करता है, वह समस्त ‘अर्थ’ एक कोटि का नहीं है। उसके तीन प्रमुख रूप हैं—भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक। जिस अर्थ में संवेदना हो वह ‘भौतिक अर्थ’ है तथा जिस अर्थ को मन एवं बुद्धि ग्रहण करते हैं वह ‘मानसिक अर्थ’ है। यह भी दो प्रकार का है—एक उत्पन्न और दूसरा अनुत्पन्न। शुद्ध बौद्धिक अर्थ, जैसे गणितीय विषय, ज्यामितीय विषय या बौद्धिक प्रत्यय, अनुत्पन्न अर्थ है तथा जो भौतिक अर्थ एवं अनुत्पन्न मानसिक अर्थ के ज्ञान के संस्कारों से हमारे मनस् में उस अर्थ से सम्बन्धित एक प्रत्यय बन जाता है, वही ‘उत्पन्न मानसिक अर्थ’ अनुत्पन्न मानसिक अर्थ एवं भौतिक अर्थ का प्रतिबिम्ब होता है, क्योंकि यह उन्हीं से उत्पन्न है। इसी अर्थ के आधार पर भूतकाल के अर्थ को वर्तमान काल में जान सकते हैं। जिस अर्थ को इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि से नहीं जाना जा सकता वह ‘आध्यात्मिक अर्थ’ है।

स्मृति ‘उत्पन्न मानसिक अर्थ’ को अपना विषय बनाती है तथा उसी की सत्ता को सिद्ध करती है। इस अर्थ को किसी अन्य साधन या माध्यम से नहीं जाना जा सकता है। अतः स्मृति को प्रमाण मानना आवश्यक है। अर्थ के इस व्यापक अर्थ को लेने पर स्मृति के लक्षण में होने वाले ‘अव्याप्ति दोष’ का निराकरण हो जाएगा तथा अन्य प्रमाणों के विषयों एवं स्मृति के विषय में भेद हो जाएगा, जिससे स्मृति एवं प्रत्यभि-ज्ञान के विषयों का एक होने का दोष नहीं होगा तथा साथ में जयन्त के इस आक्षेप—स्मृति अर्थ से उत्पन्न नहीं होती है—का निराकरण हो जाएगा।

‘धारणा’का अर्थ है, किसी भी विषय या अर्थ के निर्णीत ज्ञान को मनस् में धारण कर लेना। किन्तु जैन दार्शनिकों ने धारणा की उत्पत्ति मात्र इन्द्रिय प्रत्यक्ष में मानी है, जो न्यायोचित नहीं है, क्योंकि प्रत्येक विषय के ज्ञान की एव प्रत्येक ज्ञान में एक निर्णीत स्थिति एवं संस्कार होता है, जिसे मनस् में धारण किया जाता है। अतः मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय ज्ञानों में भी धारणा एवं संस्कार को स्वीकार करना चाहिए। धारणा एवं संस्कार के इस व्यापक अर्थ को लेने पर स्मृति के लक्षण में आने वाले ‘अव्याप्ति दोष’ का निराकरण हो जाएगा।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि पूर्व ज्ञान की निर्णीत स्थिति की धारणा जिस ज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त है तथा जो उत्पन्न मानसिक अर्थ को विषय करता है एवं ‘वह’ इस आकार का है, स्मृति है। □

सन्दर्भ सूची

१. अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं हि प्रमाणं, अतो ज्ञानमेवेदम् ।

—प्रमाण-नय-तत्त्वालोक, सूत्र, १.३

२. जैन-दार्शनिक ज्ञान को आत्मा का अनिवार्य गुण मानते हैं जबकि बौद्ध दार्शनिक ज्ञान को न तो अनिवार्य गुण मानते हैं और न ही आगन्तुक गुण तथा वे ज्ञान को आत्मा की क्रिया भी स्वीकार करते हैं। और ज्ञान को एक

स्वयं में द्रव्य भी नहीं कहना चाहते । किन्तु उनका कहना है कि ज्ञान को किसी अन्य अधिष्ठान की आवश्यकता नहीं है ।

—भारतीय दार्शनिक समस्याएं, पृ० २ एवं ३

३. भारतीय दार्शनिक समस्याएं, पृ० २, ९ एवं १०

४. अष्टसहस्री, पृ० ५०

५. शेखावत, राजवीरसिंह, 'जैन सर्वज्ञ सिद्धि-विभिन्न आयाम',

—जिनवाणी, पृ० १९, फरवरी, १९९२

६. संस्कारो द्बोधनिबन्धवा तदित्याकारा स्मृतिः । स देवदत्तो यथा ।

—परीक्षामुख, सू० ३.३ एवं ३.४

७. तत्र संस्कारप्रबोधसम्भूतं, अनुभूतार्थविषयं, तदित्याकारं वेदनं स्मरणम् । तत्तीर्थकरबिम्बमिति यथा ।

—प्रमाण-नय-तत्त्वालोक, सू० ३.३ एवं ३.४

८. वासनोद्बोधहेतुका तदित्याकारा स्मृतिः ।

—प्रमाणमीमांसा, सू० १.२.३

९. तदित्याकारा प्रागनुभूतवस्तुविषय स्मृतिः ।

—न्याय दीपिका, पृ० ५३

१०. अनुभवमात्रजन्यं ज्ञानं स्मरणम्, यथा तत्तीर्थकरबिम्बम् ।

—जैन तर्कभाषा, (प्रमाणपरिच्छेद) पृ० २५

११. न्याय दीपिका, पृ० ५३ एवं ५४

१२. वही, पृ० ५२

१३. प्रमाणमीमांसा स्वोपज्ञ वृत्ति संख्या १.२.७ पृ० ७६

१४. नव्य नैयायिकों ने संस्कार की जागृति के तीन कारण माने हैं—सादृश्य, चिन्ता या चिन्तन और अदृष्ट ।

—तर्कभाषा हिन्दी व्याख्या, पृ० १५

१५. आवरणक्षयोपशमसद्गुणदर्शनानादिसामग्रीलब्धप्रबोधा तु स्मृति जनयतीति।

—प्रमाणमीमांसा स्वोपज्ञवृत्ति, वृत्ति संख्या, १.२.७, पृ० ७६

१६. न्यायावतार हिन्दी व्याख्या, पृ० २९

१७. न चेदमप्रमाणम्, प्रत्यक्षादिवत् अविसंवादकत्वात् ।

—जैन तर्क भाषा, (प्रमाण परिच्छेद) पृ० २५

अविसंवादित्वाच्च प्रमाणं स्मृतिः प्रत्यक्षादिवत् । न हि स्मृत्वा निक्षेपादिपु प्रवर्तमानस्य विषयविसंवादोस्ति ।.....।

—न्याय दीपिका, पृ० ५५

सा च प्रमाणम् अविसंवादित्वात् स्वयं निहितप्रत्युन्मार्गणादिव्यवहाराणां दर्शनात् ।

—प्रमाणमीमांसा स्वोपज्ञ वृत्ति, वृत्ति संख्या १.२.८ पृ० ७७

१८. न्यायदीपिका में उद्धृत, पृ० ५५

१९. प्रमाणं द्विधा ।

—प्रमाणमीमांसा, सू० १.१.९

तद् द्वेधा ।

—परीक्षामुख, सू० २.१

तच्छब्देन प्रमाणं परामृश्यते । तत्प्रमाणं स्वरूपेणावगतं द्वेधा द्विप्रकारमेव, सकलप्रमाणभेदानामत्रैवांतर्भावात् ।

—प्रमेयरत्नमाला, पृ० ४२

२०. विशदं प्रत्यक्षम् ।

—परीक्षामुख, सू० २.३

विशदः प्रत्यक्षम् ।

—प्रमाणमीमांसा, सू० १.१.१३

२१. प्रत्यक्षादिनिमित्तं.....।

—परीक्षामुख, सू० ३.२

प्रत्यक्षादिनिमित्तमित्यत्रादिशब्देन परोक्षमपि गृह्यते ।

—प्रमेयरत्नमाला, पृ० १३३

२२. जैन न्याय, पृ० १५४

२३. स्मृतिहेतुधारणा ।

—प्रमाणमीमांसा, सू० १.१.२९

वादिदेवसुरि ने स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ३४९) में विद्यानन्द के 'स्मृति-हेतुधारणा' उस लक्षण का खण्डन किया है। उनका कहना है कि धारणा ज्ञान स्मृति काल तक नहीं रह सकती, क्योंकि परमागम में छद्मस्थ के उपयोग का काल अन्तर्मुहूर्त बतलाया है, अतः स्मृति का साक्षात् कारण ज्ञान की एक शक्ति विशेष है जिसे संस्कार भी कहते हैं। धारणा ज्ञान तो उसी समय समाप्त हो जाता है। अतः उसे परम्परा से स्मृति का हेतु कह सकते हैं।

—जैन न्याय, पृ० १५४

किन्तु मुझे ऐसा नहीं लगता, क्योंकि प्रमाणमीमांसा स्वोपज्ञ वृत्ति (हिन्दी-व्याख्या) में धारणा को ही संस्कार कहा गया है। दूसरे, विशेषावश्यक भाष्य में कहा गया है कि धारणा संख्यात या असंख्यात काल तक रहती है। अतः वादिदेव का यह भेद युक्तिसंगत नहीं है। 'धारणा' और 'संस्कार' में मात्र शब्दों का भेद रह जाता है, अर्थ का नहीं। इसी बात को ध्यान में रखते हुए मैंने 'संस्कार' शब्द के स्थान पर 'धारणा' शब्द का प्रयोग अधिक किया है। यद्यपि कुछ स्थानों पर 'संस्कार' शब्द का प्रयोग भी किया है। —लेखक

२४. जैन न्याय, पृ० १९५

२५. अवग्रहादीनां वा ऋमोपजनधर्माणां पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम् ।

—प्रमाणमीमांसा, सू० १.१.३९

.....स्मृतिः प्रमाणं प्रत्यभिज्ञानं फलम् ।

—प्रमाणमीमांसा स्वोपज्ञ वृत्ति, वृत्ति १.१.१४५

३७. अनुभवस्मृतिहेतुकं संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् ।

—न्यायदीपिका, पृ० ५५

दर्शनस्मरणसम्भवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादिसङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् ।

२७. द्विविधं हि फलं साक्षात्पारम्पर्येणेति । साक्षादज्ञाननिवृत्तिः पारम्पर्येण हानादिक-
मिति; प्रमेयनिश्चयोत्तरकालभावित्वात्तस्येति ।

—प्रमेयरत्नमाला, सू० ५.१ की टीका, पृ० ३००

२८. अननुभूते वस्तुनि तदिति ज्ञानं स्मरणाभासम् ॥३१॥

अननुभूते मुनिमण्डले तन्मुनिमण्डलमिति यथा ॥३२॥

—प्रमाण-नय-तत्त्वालोका, सू० ६.३१ और ६.३२

अतस्मस्तिदिति ज्ञानं स्मरणाभासं जिनदत्ते स देवदत्तो यथा ॥८॥

—परीक्षामुख, सू० ६.८

२९. न्यायदीपिका, पृ० ५४

३०. भारतीय दार्शनिक समस्याएं, पृ० ३९; ४० एवं ४१

३१. न स्मृतेरप्रमाणत्वं ग्रहीतग्राहिताकृतम् ।

किन्त्वनर्थजन्यत्वं तदप्रामाण्य कारणम् ॥

—न्यायमंजरी, पृ० २३, जैन दर्शन में उद्धृत, पृ० २२५

३२. जैन न्याय, पृ० १९३ एवं १९४

३३. प्रमाणमीमांसा स्वोपज्ञ वृत्ति, वृत्ति सं० १.२.८, पृ० ७७

३४. जैन तर्क भाषा, पृ० २५

३५. न्याय दीपिका, पृ० ५४ एवं ५५

३६. जैन दर्शन, पृ० २२५

३७. प्रमाणमीमांसा स्वोपज्ञ वृत्ति, पृ० ७७

३८. जैन तर्क भाषा, पृ० २५

□

गांधीजी ने जैन जगत् को जगाया

महात्मा-गांधी ने अपने जीवन में सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह को मूर्त रूप दिया। सत्य वचन पालन, अहिंसा व्रत धारण और अपरिग्रह पूर्व जीवन यापन जिस समय व्यवहार शून्य हो रहा था उस समय गांधीजी ने इन मूल महाव्रतों को अपनाने का संकल्प लिया।

“अहिंसा परमो धर्मः” सब कहते थे, किन्तु बस कहते भर थे। उसके प्रयोग और जीवन में व्यवहार की बात कोई विरला ही करता था। दूसरों का भला करना चाहिए। दीन दुःखियों की सहायता करनी चाहिये। प्राणी मात्र को कष्ट नहीं देना चाहिए। मानव, मानव में कोई भेद नहीं होता। इत्यादि सभी, आचरण में लोप हो चुके थे। स्वार्थ परता, आपाधापी और अहमहमिका का सर्वत्र बोलबाला था।

भगवान् महावीर के काल में भी ऐसा ही दुष्काल था। मनुष्य जाति की उस समय भी यही दुरावस्था थी। जातिभेद, छूआछूत, स्त्री की लाचारी और यज्ञीय कर्म काण्ड की बहुलता थी। समाज और देश में अनाचार पनप रहा था। भगवान् महावीर ने उसका विरोध, अहिंसा और सत्य के प्रयोग से किया और अपने विरोध को वर्धमान करते हुए वे नात्तिपुत्र से महावीर बन गये।

मोहन गांधी ने भी अफ्रीका में भारतीयों की दुगावस्था देखकर अपने पैर रोके और अहिंसा एवं सत्य के सहारे दानवता से भूझने लगे। उन्हें सफलता मिली। भारत आये तो यहां भी उन्होंने उसी मंत्र की सघन साधना शुरू कर दी। मंत्र का प्रभाव हुआ और स्वामी श्रद्धानंद, कवीन्द्र रवीन्द्र, लाला लाजपतराय, देशबन्धु चित्तरंजन दास, मोतीलाल नेहरू आदि देश के मूर्धन्य नेताओं ने उन्हें अपना नेता मान लिया। वे राजनीतिक शक्ति बनें और उनके द्वारा भारत को आजादी मिली।

उनकी सफलता ने भारतीय समाज को अपना अतीत का गौरव याद दिलाया। विशेष रूप से जैन जगत् को अपने मूलभूत सिद्धान्त अहिंसा और अपरिग्रह पर पुनः विश्वास होने लगा। विजय सेठ और विजय सेठानी, स्थूलिभद्र मुनि का व्रत, रात्रि भोजन त्याग, उपभोग-परिभोग परिमाण, उपवास, आर्यबिल जैसे संस्कारी कर्मों पर पुनः श्रद्धा हुई। आचार्य श्री तुलसी के अणुव्रत आन्दोलन और प्रेक्षाध्यान के द्वारा जीवन सुधारने की प्रेरणा हुई।

फल यह हुआ कि आशा और विश्वास के साथ भविष्य के प्रति अनुराग हो रहा है। विनाश के कगार पर पहुंच कर भी मनुष्य मुड़कर पीछे देखने लगा है और जैन जगत् अपने जीवन मूल्यों को पुनः स्वीकार करने लगा है।

—प० सो०

तुलसी प्रज्ञा

तेरापंथ का संस्कृत साहित्य : उद्भव और विकास-३

□ मुनि गुलाबचन्द 'निर्मोही'

संगीत काव्य

संगीत काव्य का सामान्य वैशिष्ट्य संस्कृत के गीतकाव्यों में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। संगीत में भावातिरेक होता है। कवि अपनी अनुभूति और कल्पना से वर्ण्य विषय तथा वस्तु को भावात्मक बना देता है। जब कवि हृदय अनुभूति की तीव्रता से आप्लावित हो जाता है तब उसकी बाह्य अभिव्यक्ति संगीत के माध्यम से होती है। संगीत काव्य में भावतत्त्व की प्रमुखता होती है। यों तो संस्कृत में काव्य मात्र के लिए रसात्मकता अपेक्षित होती है। किन्तु संगीत काव्य के लिए तो यह अनिवार्य अपेक्षा है। भाव-सांद्रता के अभाव में कोई भी उक्ति संगीत की संज्ञा को प्राप्त नहीं कर सकती। भावों में भी किसी एक भाव का केन्द्रस्थ होना आवश्यक है। अन्य भाव तो उसकी अभिवृद्धि, समृद्धि और पुष्टि में सहायक होते हैं।

काव्य तथा संगीत—दोनों पृथक्-पृथक् अभिव्यक्तियाँ हैं। काव्य अपनी अभिव्यञ्जना के निमित्त संगीत का सहारा नहीं चाहता और संगीत भी अपनी अभिव्यक्ति के निमित्त काव्य का आलम्बन नहीं चाहता किन्तु दोनों का समन्वय स्वभावतः ही एक उत्कृष्ट अभिव्यक्ति का रूप धारण कर लेता है। अतः संगीत काव्य को भी काव्य का एक उत्कृष्ट स्वरूप मान लिया गया है।

संस्कृत भाषा में महाकवि जयदेव का "गीत गोविन्द" तथा जैन परम्परा में उपाध्याय विनय विजयजी का "शांत सुधारस" प्रसिद्ध संगीत काव्य है। संगीत काव्यों को तेरापंथ के साधु-साधिव्यों ने अस्खलित रखा है। अनेक संगीत काव्य जो अब तक अप्रकाशित हैं, वे काव्य प्रधान और रस पूरित हैं। उनका उल्लेख यहां प्रासंगिक और उपयोगी होगा—

गीतिसंदोह :

संस्कृत गीतिमाला

गीतिगुच्छः

गीतिगुम्फः

मुनिश्री दुलीचन्द 'दिनकर'

साध्वीश्री संघमित्रा

” ”

साध्वीश्री कमलश्री

स्तोत्र काव्य

संस्कृत का स्तोत्र साहित्य बहुत विशाल, सरल और हृदयस्पर्शी है। प्रत्येक धर्म में भक्त और मगवान् के बीच भक्ति का गहरा अनुबन्ध होता है। भक्त अपने हृदय की

बातें भगवान् ने सामने प्रकट करने और उनके गुणकीर्तन में अपने हृदय की कोमल तथा भक्ति पूरित भावना अभिव्यक्त करता है। जिस प्रकार बालक अपनी माता के पास इच्छित वस्तु न मिलने पर कभी रोता है, कभी हंसता है और आत्म विश्वास में भर कर नाच उठता है। ठीक यही दशा भक्त कवियों की होती है। वे अपने इष्ट के सामने अपने हृदय को खोलने में तनिक भी संकोच नहीं करते। इस गुण के कारण कारण ही भक्तों द्वारा रचित स्तोत्र काव्यों में चित्त को पिघलाने वाली गहरी शक्ति है।

जैन परम्परा में भी भक्ति रस से स्निग्ध और आत्म निवेदन से परिपूर्ण अनेक स्तोत्र काव्यों का प्रणयन हुआ है। स्तोत्र काव्यों का प्रारम्भ आचार्य समन्तभद्र ने स्वयंभू स्तोत्र देवागम स्तोत्र आदि स्तुति रचनाओं से किया। सिद्धसेन दिवाकर का “कल्याण मन्दिर स्तोत्र” तथा मानतुंगाचार्य का “भक्तामर स्तोत्र” इस क्रम में विशेष उल्लेखनीय हैं। तेरापंथ के साधु-साधवियों ने भी स्तोत्र काव्यों को पर्याप्त विकसित किया है। उन्होंने स्वतंत्र स्तोत्र काव्यों की रचना भी की है और समस्या पूतिमूलक स्तोत्र काव्यों की रचना भी की है। समस्या पूतिमूलक स्तोत्र काव्यों में किसी अन्य काव्य के श्लोकों का एक-एक चरण लेकर उस पर नई श्लोक रचना के द्वारा नये काव्य की रचना की जाती है। इस पद्धति का प्रारम्भ जैन परम्परा में सर्व प्रथम आचार्य जिनसेन ने किया। उन्होंने कालिदास के मेघदूत के समस्त पद्यों के समग्र चरणों की पूति करते हुए पार्श्वभ्युदय की रचना की। मेघदूत जैसे शृंगार रस प्रधान काव्य की परिणति शांत और संवेग रस में करना कवि की श्लाघनीय प्रतिभा का परिणाम है।

मेघदूत के चतुर्थ चरण की पूति में दो जैन काव्य और उपलब्ध हैं। उनमें पहला “नेमिदूत” है और दूसरा “शीलदूत” है। नेमिदूत की रचना विक्रम कवि ने तथा शीलदूत की रचना चरित्रसुन्दरगणी द्वारा हुई है।

तेरापंथ के साधु-साधवियों में समस्या पूति स्तोत्र काव्यों का प्रवाह भी एक साथ ही उमड़ा। वि० सं० १९८० में सर्व प्रथम मुनिश्री नथमल(बागोर) ने सिद्धसेन दिवाकर रचित कल्याण मंदिर स्तोत्र की पदपूति करते हुए दो कालू कल्याण मंदिर स्तोत्रों की रचना की। वि० सं० १९८९ में आचार्य श्री तुलसी ने भी कल्याण मंदिर स्तोत्र के पृथक्-पृथक् चरण लेकर “कालू कल्याण मंदिर” स्तोत्र की रचना की। यह क्रम क्रमशः विकसित होता गया और आगे चलकर मुनिश्री कानमल ने मानतुंगाचार्य के भक्तामर स्तोत्र की पदपूति करते हुए “कालू भक्तामर” की रचना की तथा मुनिश्री सोहनलाल (चूरू) ने कल्याण मंदिर स्तोत्र और भक्तामर स्तोत्र की पदपूति करते हुए क्रमशः कालू कल्याण मंदिर और कालू भक्तामर स्तोत्रों की रचना की।

स्वतंत्र स्तोत्र काव्यों में आचार्य श्री तुलसी द्वारा रचित “चतुर्विंशति स्तवन” विशेष उल्लेखनीय है। इसकी कोमल पदावली में अन्तःकरण से सहज निःसृत भावों की अनुस्यूति है। इसकी रचना विक्रम संवत् २००० के आस-पास हुई थी। इसके अतिरिक्त स्तोत्र काव्यों की एक लम्बी शृंखला उपलब्ध है जिसमें उल्लेखनीय है—

तुलसी स्तोत्रम्	युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ
तेरापंथ स्तोत्रम्	मुनिश्री नथमल (बागौर)
जिन चतुर्विधिका	, , ,
तुलसी वचनामृतस्तोत्रम्	, , ,
गुरु गौरवम्	मुनिश्री डूंगरमल
देव गुरु स्तोत्रम्	, सोहनलाल (चूरू)
मातृ कीर्तनम्	, , ,
भगवत् स्तुतिः	, , ,
देवगुरु द्वात्रिंशिका	मुनिश्री छत्रमल
भिक्षु द्वात्रिंशिका	, ,
तुलसी द्वात्रिंशिका	, ,
तुलसी स्तोत्रम्	, दुलीचन्द "दिनकर"
श्री तुलसी स्तोत्रम्	, बुद्धमल्ल (निकाय प्रमुख)
श्री तुलसी स्तोत्रम्	मुनिश्री पूनमचन्द
नमिनाथ नुतिः	मुनिश्री मोहनलाल "शार्दूल"

नीति काव्य

संस्कृत साहित्य में नीति परक ग्रन्थ विशेष रूप से उपलब्ध होते हैं। जीवन की श्रेयोभिमुखता के नाना विषयों का समावेश इनमें हुआ है। इन काव्यों की शैली-विशिष्ट प्रकार की और सुबोध है। इनमें प्रायः अनुष्टुप वृत्तों की ही प्रचुरता होती है। दूसरे वृत्तों में भी इसकी रचनाएं उपलब्ध होती हैं किन्तु उनकी संख्या कम है। नीति काव्यों में स्वाभाविकता भी इतनी अधिक होती है कि श्रोताओं के हृदय पर इनका सीधा प्रभाव होता है। नीति काव्य तथा उपदेश काव्य में कुछ पृथक्ता लक्षित होती है किन्तु वह बहुत सूक्ष्म है। जीवन के परिष्कार की प्रेरणा देना दोनों का समान लक्ष्य है किन्तु नीति काव्यों में सूक्तियों का सौष्ठव रहता है जबकि उपदेश काव्य में अर्थ की कल्पना पर विशेष बल दिया जाता है। नीति काव्य की चोट सीधी पड़ती है जब कि उपदेश काव्य का प्रभाव क्रमशः पड़ता है।

जैन परम्परा में नीति काव्यों के प्रणेता भर्तृहरि माने जाते हैं। उनके द्वारा प्रणीत नीति शतक और वैराग्य शतक चाणक्य नीति की समकक्षता को प्राप्त करने वाले काव्य हैं।

तेरापंथ में काव्य की अन्य विधाओं के साथ नीति काव्य की परम्परा भी सतत वर्धमान रही है। पंचसूत्रम्, शिक्षा षण्णवतिः, कर्तव्यषट्त्रिंशिका, आदि अनेक काव्य ग्रन्थ इस परम्परा के विकास के हेतु हैं।

पंचसूत्रम् आचार्य श्री तुलसी की एक विशिष्ट देन है। आज के स्वतंत्र मानस में परतंत्रता के प्रति इतनी तीव्र प्रतिक्रिया है कि वह व्यवस्था भंग के लिए उत्सुक ही नहीं अपितु आतुर हो रहा है। प्रश्न होता है कि क्या समाज अनुशासन का अतिक्रमण

करके अपने अस्तित्व को सुरक्षित रख सकता है ? इसका उत्तर आचार्यश्री ने अहिंसा की भाषा में दिया है। आचार्यश्री सामूहिक जीवन में अनुशासन और व्यवस्था मानते हैं। आचार्यश्री के विचारों में अनुशासन जीवन की गति का अवरोध नहीं किन्तु प्रेरक है। इसी आशय से उन्होंने लिखा है—

पंगुतां न नयत्येष, हस्तालम्बं सृजन्नपि ।
गति सम्प्रेरयत्येव, गच्छेद्युस्ते निजक्रमैः ।;

अनुशासन आत्मानुशासन का पूरक है। आत्मानुशासन की कमी में अनुशासन की आवश्यकता है। ज्यों ज्यों आत्मानुशासन का विकास होता है, त्यों-त्यों अनुशासन स्वतः ही क्षीण हो जाता है—

यथा यथोदयं याति, पुण्यं स्वात्मानुशासनम् ।
विफणावस्थमार्याणां, तथा तथाऽनुशासनम् ॥

आचार्यश्री की दृष्टि में अनुशासन का मूल्य सापेक्ष है। सूर्योदय होने पर दीपक या बल्ब का प्रकाश अपेक्षित नहीं है किन्तु अन्धेरे में भी उनकी अपेक्षा नहीं है, यह कैसे माना जा सकता है ? अनुशासन और व्यवस्था की आदेयता भी इसी संदर्भ में जानी जा सकती है।

पंच सूत्रम् के पांच सूत्र हैं—

१. अनुशासन सूत्र
२. व्यवस्था सूत्र
३. चर्या सूत्र
४. आलंबन सूत्र
५. शांत सहवास सूत्र

प्रस्तुत कृति मुख्यतः तेरापंथ साधु-संघ को लक्षित कर लिखी गई है किन्तु इसमें जिन तथ्यों और सत्यों का उद्घाटन है वह केवल तेरापंथ साधु संघ के लिए ही नहीं अपितु हर सामाजिक संगठन के लिए है। इसकी रचना वि० सं० २०२२ में माघ शुक्ला ७ के दिन हिसार में सम्पन्न हुई। इसका हिन्दी अनुवाद साध्वीश्री कानकुमारी एवं संपादन मुनिश्री दुलहराज ने किया है।

शिक्षाषण्णवति : आचार्यश्री तुलसी का विभिन्न विषयों का स्पर्श करने वाला एक नीतिकाव्य है। इसकी मौलिक विशेषता यह है कि इसकी श्लोक रचना मानतुंगाचार्य के भक्ताभर स्तोत्र की पदपूर्ति के रूप में हुई है। शैक्ष विद्यार्थियों के लिए इसकी उपयोगिता असंदिग्ध है। इसके पारायण से श्लोकरचना, पदपूर्ति, विषय निरूपण आदि का सम्यग् बोध होता है। इसमें पदपूर्ति के साथ भाव सामंजस्य का निर्वहन भी बहुत सुचारू रूप से हुआ है। प्रस्तुत कृति में विरक्ति का विश्लेषण करते हुए कहा है—

दावानलं ज्वलितं मुज्ज्वलं मुस्फुलिंगं,
कः कोऽत्र भोः प्रशमयेत् प्रचुरेन्धनेन ।

आभ्यन्तरो विषय भोगविजृम्भिदाह-
स्त्वन्तविरागसलिलैः शमतामुपैति ॥

इसी कृति में धर्म को सम्बोधित करते हुए एक अन्य स्थान पर कहा गया है—

क्रूराः कलंकितकलाश्च यदूर्ध्वहस्ता,
यस्मिन् युगे प्रतिग्रहं मनिताः श्रिताश्च ।
तूष्णीं स्थितः किमपि धर्म ! महान्स्त्वमित्थं,
नात्यद्भुतं भुवन भूषण ! भूतनाथ !

इस प्रकार प्रस्तुत कृति में चमत्कार पूर्ण शैली में विभिन्न प्रश्नों का सहज समाधान निहित है। इसकी रचना वि० सं० २००५ में छापर (राजस्थान) में हुई। इसके कुल २० प्रकरण हैं। जिनका हिन्दी अनुवाद निकाय प्रमुख मुनिश्री बुद्धमल्ल द्वारा किया गया है।

कर्तव्य पट्टत्रिशिका भी आचार्यश्री तुलसी द्वारा रचित एक लघु नीतिकाव्य है। शैक्ष साधु-साधिवियों को साधना का सम्यग्दर्शन प्रदान करने के लिए प्रस्तुत कृति की रचना हुई है। एक यथार्थवादी के लिए यथार्थ दृष्टिकोण का प्रतिपादन जितना आह्लादकारी होता है। उतना आह्लादकारी उसके लिए कोई अन्य तत्व नहीं होता। यथार्थ का प्रतिपादन प्रस्तुत कृति की मौलिक विशेषता है। इसमें निःश्रेयस के साथ अभ्युदय की कड़ी भी जुड़ी हुई है। जैन धर्म में विनयमूल पद्धति का विशेष महत्त्व रहा है। विनय की यथार्थता को न समझने वाले को सम्भवतः इसमें अतिरंजन लगे किन्तु यथार्थ की भाषा यह है कि आत्म साधक के लिए विनम्र होना अत्यंत आवश्यक है। गुरु और शिष्य के सम्बन्धों में स्वार्थ का संघर्ष नहीं होता, उनमें आत्मार्पण का भाव होता है। प्रस्तुत कृति में इसका सुन्दर चित्रण हुआ है। गुरु के प्रति शिष्य को कर्तव्य बोध देते हुए इसमें कहा गया है—

विनेयो निजसर्वस्वं, मन्यते सर्वदा गुरुम् ।
आराधयेत् यथा वह्निम्-आहिताग्निः कृताञ्जलिः ॥

इसमें कर्तव्य बोध के साथ-साथ अनेक सहज उक्तियों का भी समावेश है—जो अन्तःकरण पर सीधा असर डालती हैं—

केवलेनोपदेशेन, निश्चित वाग्विडम्बना

कर्तव्य बोध की एक अन्य उक्ति भी सहज शब्दावली में गहरी बात कहती है—

“कृत्याकृत्यविवेको हि, नृपश्चोरन्तरं विदुः”

यह ऐकान्तिकी कृति है। तेरापंथ धर्म संघ में शैक्ष साधु-साधिवियों को इसका प्रारम्भ से ही पारायण कराया जाता है। इसकी रचना वि० सं० २००५ में छापर (राज०) में हुई। इसका हिन्दी अनुवाद निकाय प्रमुख मुनिश्री बुद्धमल्ल द्वारा किया गया है। उक्त तीनों नीति काव्यों के कण्ठीकरण की परम्परा भी रही है।

नीति काव्यों की शृंखला में मुनिश्री वत्सराज की “चतुष्कोणः” भी एक सद्यस्क कृति है। ठाण सूत्र की चतुर्भंगियों की तरह इसमें भी सुभाषित और उपदेश को प्रांजल भाषा में पिरोने का प्रयत्न किया गया है। उस प्रयत्न में सफलता भी मिली है। आकार की दृष्टि से कृति लघु होते हुए भी सरस और सुपाठ्य है।

तेरापंथ के साधु-साध्वियों ने संस्कृत भाषा के विकास के लिए हर नये उन्मेष को स्वीकार किया और उसमें सफलता प्राप्त की। ऐकाहिक शतक, समस्यापूर्ति, आशुंकवित्व, एकाक्षरी काव्य, चित्रमय काव्य आदि उनमें प्रमुख हैं। वि० सं० १९७४ में चूरू में पं० रघुनन्दन का तेरापंथ के आठवें आचार्यश्री कालूगणी के साथ सम्पर्क हुआ। पण्डितजी आचार्यश्री के प्रथम सम्पर्क से ही प्रभावित हो गए थे। उन्होंने साधुओं के आचार व्यवहार का सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके उसी दिन तीन घण्टों में “साधु शतकम्” नामक काव्य की रचना की। उसे देखकर साधु-साध्वियों के मन में भी शतक रचना की बात घूमने लगी। वि० सं० २००० के फाल्गुन में जब आचार्यश्री तुलसी भीनासर में प्रवास कर रहे थे तब सर्व प्रथम युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ ने ऐकाहिक शतक बनाया। उसके कुछ दिनों पश्चात् निकायप्रमुख मुनिश्री बुद्धमल्ल ने ऐकाहिक शतक बनाया। उसके पश्चात् तो शतक रचना की एक प्रकार से होड़ लग गई। अनेक साधुओं तथा साधियों ने ऐकाहिक शतकों की रचना की। उससे आगे आने वाली पीढ़ी ने इस क्रम को और आगे बढ़ाया तथा कुछ वर्षों पश्चात् वि० सं० २०१६ में मुनिश्री राकेश कुमार ने एक दिन में एक हजार श्लोकों तथा विक्रम संवत् २०१८ में मुनि गुलाबचन्द्र “निर्मोही” ने एक दिन में ग्यारह सौ संस्कृत श्लोकों की रचना की।

ऐकाहिक शतकों के अतिरिक्त कुछ अन्य शतक काव्य भी लिखे गए हैं जिनमें मानवीय संवेदनाओं के साथ अन्तरंग अनुभूतियों का सम्यग् चित्रण हुआ है। उनमें से कुछ प्रमुख हैं :—

भिक्षुशतकम्	युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ
कृष्ण शतकम्	मुनिश्री छत्रमल
महावीर शतकम्	” ”
भिक्षु शतकम्	” ”
जयाचार्य शतकम्	” ”
कालू शतकम्	” ”
तुलसी शतकम्	” ”
तेरापंथ शतकम्	” ”
तुलसी शतकम्	”, दुलीचन्द “दिनकर”
अणुव्रत शतकम्	”, चम्पालाल
धर्म शतकम्	” ”
समस्या शतकम्	”, मधुकर

नैशं द्विशतकम्
 त्रिंशत्शतपदी
 श्लोक शतकम्
 पृथ्वी शतकम्

,, राकेश कुमार
 मुनि गुलाबचन्द्र “निर्मोही”
 साध्वीश्री मोहन कुमारी
 ,, कनकश्री

समस्या पूर्ति का क्रम आचार्यश्री कालूगणी के समय से ही प्रारम्भ हो चुका था। सर्व प्रथम स्तोत्र काव्यों के रूप में समस्या पूर्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ। आचार्य तुलसी के काल में इसे विशेष बल मिला। विभिन्न समस्याओं की पूर्ति के लिए किसी काव्य आदि में से लेकर या नवीन रचना कर पद दिए जाते और एक निश्चित अवधि में उनकी पूर्ति कराई जाती। शीतकाल में जब बहिर्विहारी साधु-साधवियों का सम्मिलन होता तो यह कार्यक्रम विशेष रूप से समायोजित किया जाता। संस्कृत विद्वानों की गोष्ठी में भी ऐसा कार्यक्रम रखा जाता और समस्या पूर्ति के श्लोक सुनाए जाते। इससे वातावरण में बड़ा उत्साह रहता और साधु-साधवियों को भी प्रेरणा मिलती। परिणाम स्वरूप आज स्थिति यह है कि पचासों साधु-साधवियां इस विद्या में यथेष्ट क्षमता रखते हैं।

शतक रचना की तरह पंडित रघुनन्दन का आशुकवित्त्व भी आशुकविता के क्षेत्र में प्रेरक बना। गद्य-पद्य लेखन, काव्य रचना, धारा प्रवाह संस्कृत भाषण, समस्या पूर्ति आदि अनेक क्षेत्रों में सफलता के अनन्तर आशुकवित्त्व में भी पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। वि० सं० २००८ के मृगसर मास में राजलदेसर (राज०) में सर्व प्रथम युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ और निकाय प्रमुख मुनिश्री बुद्धमल्ल ने आचार्यश्री तुलसी के सान्निध्य में जनता के बीच आशुकविता की। तेरापंथ धर्म संघ में आशुकविता का वह प्रथम और सफल प्रयोग था। उसके पश्चात् यह क्रम बढ़ता गया और अनेक साधु-साधवियों ने इसमें योग्यता प्राप्त की।

आशुकविता का महत्त्व और चमत्कार देश के दिग्गज संस्कृत विद्वानों ने स्वीकार किया है। तेरापंथ के संस्कृत आशुकवियों में युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ और मुनिश्री बुद्धमल्ल का स्थान प्रमुख है। युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ के आशुकवित्त्व पर प्रस्तुत निबन्ध में कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। उन्होंने पूना, वाराणसी आदि संस्कृत प्रधान क्षेत्रों में व्यापक यश अर्जित किया है। वाराणसी के संस्कृत महाविद्यालय में स्याद्वाद पर धारा प्रवाह लम्बे संस्कृत वक्तव्य के तत्काल पश्चात् ही विद्वानों द्वारा प्रदत्त विषय पर धारा प्रवाह आशुकवित्त्व करके उन्होंने सबको चमत्कृत कर दिया। बम्बई में एक विदेशी विद्वान् ने आशुकविता के लिए विषय दिया—“एक ऐसी चीज जो गोलाकर घूमती हुई ऊपर की ओर जाती हो।” सामान्यतः ऐसे विषयों पर आशुकवित्त्व कठिन होता है किन्तु युवाचार्यश्री ने तत्काल उस पर श्लोक रचना प्रारम्भ कर दी। वह विदेशी विद्वान् संस्कृत पर इस प्रकार का असाधारण अधिकार देखकर बहुत प्रभावित हुआ।

मुनिश्री बुद्धमल्ल ने भी अपने आशुकवित्त्व का पर्याप्त प्रभाव छोड़ा है। वि० सं० २००८ में अम्बाला छावनी के कॉलेज में वहाँ के प्रिंसिपल ने “आधुनिक विद्या” पर आशुकविता करने के लिए कहा। विद्वान् मुनिश्री ने तत्काल अस्खलित रूप में श्लोक

बोलने प्रारम्भ किए। श्रोता दत्त चित्त होकर सुन रहे थे। कई श्लोक बोलने के पश्चात् प्रिसिपल ने कहा—“ठहरिए ! मैं दूसरा विषय देता हूँ।” संभवतः उन्हें भ्रम हो गया था कि ये पूर्व निर्मित श्लोक बोल रहे हैं। अतः उन्होंने कहा—“मेकाले ने गवर्नल जनरल की कौंसिल में प्रस्ताव रखा था कि भारतीयों में पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार किया जाए। उनके रूप रंग तो भारतीय ही हों किन्तु दिल और दिमाग पाश्चात्य बना दिए जाएं। इस शिक्षा का उद्देश्य निम्न श्रेणी के अफसर तथा क्लर्क तैयार करना था।” इस प्रकार बोलते हुए प्रिसिपल ने एक लम्बा भाषण दे दिया और भाषण में कही गई बातों को पद्य बद्ध करने के लिए कहा। दूसरों की शब्दावली में एक अपरिचित विषय को छन्दोबद्ध करना साधारण बात नहीं होती किन्तु मुनिश्री बुद्धमल्ल ने तत्काल अपने पूर्व क्रम को बदलते हुए प्रिसिपल के भाषण को पद्य बद्ध कर डाला। उपस्थित विद्वद् वर्ग उससे बहुत प्रभावित हुआ और प्रिसिपल तो गद्गद् हो गया। एक बार विद्वत् परिषद् ने उन्हें संस्कृत के शिखरणी छन्द में “फाउण्टेनपैन” पर कविता के लिए कहा। उन्होंने तत्काल वैयाकरण के अफसर से सबको प्रभावित कर दिया।

आशुकविता के कुछ एक प्रसंग यहां प्रस्तुत किए गए हैं किन्तु ऐसे पचासों प्रसंग उपलब्ध हैं जो बहुत ही अद्भुत और चमत्कारी हैं। संस्कृत के क्षेत्र में कवित्व दुर्लभ माना गया है, उसमें आशुकवित्व तो और भी अधिक दुर्लभ है किन्तु तेरापंथ संघ में वह सुलभ और व्यापक बना है।

संस्कृत काव्य रचना का एक विशिष्ट प्रकार है—एकाक्षरी काव्य। इस विद्या में काव्य रचना शाब्दी और आर्थी—दोनों दृष्टियों से बहुत दुरूह होती है। शताब्दियों में भी इस प्रकार की रचना दुर्लभ है। किसी ने इस प्रकार का प्रयत्न किया हो, ऐसा उल्लेख प्राप्त नहीं होता। यदि किसी ने किया भी है तो वैसे रचना प्राप्त नहीं होती। तेरापंथ धर्म संघ में इस विद्या का भी प्रयोग और विकास हुआ है। मुनिश्री चांदमल इस विद्या के अग्रणी कवि थे। उन्होंने इस प्रकार के पचासों श्लोक बनाए हैं जो शब्द, श्रुति और अर्थ—सभी दृष्टियों से चामत्कारिक हैं। समय-समय पर संस्कृत के विशिष्ट विद्वानों के समक्ष उन श्लोकों को प्रस्तुत किया गया। वे सब उनसे चमत्कृत तो हुए ही, किन्तु रचयिता के प्रगाढ़ पाण्डित्य को भी उन्होंने स्वीकार किया। एकाक्षरी काव्य का एक श्लोक उदाहरण स्वरूप यहां उद्धृत किया जाता है—

गगोगीगो गंगा गगगगग गौगांग गगगो
 गुगो गीगा गीगी ग ग ग ग ग गूगो गगगगो
 ग गो गो गे गो गो गगगगुगगो गौ गगगगो
 ग गो गो गो गौ ग ग ग ग ग गो गा गगगगो

इस प्रकार की काव्य रचना वास्तव में ही जटिल कार्य है, किन्तु जिसका भाषा और कोश पर पूर्ण अधिकार होता है वह इस जटिलता को भी पार कर लेता है। तेरापंथ धर्म संघ में इस विद्या का भी प्रचलन हुआ जो शताब्दियों में एक अद्भुत प्रयोग कहा जा सकता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में प्रयुक्त उपमान : एक विवेचन (मनुष्य और पशु वर्ग)

□ डा० हरिशंकर पांडेय

न केवल सर्वतन्त्रस्वतन्त्र कवि बल्कि विभिन्न प्रकार के आचार्य, धर्मोपदेशक भी भव्य-जीव-मंगल की भावना से भावित होकर अपनी अमृतशीकरासीक्त वाणी को काव्यमयी भाषा में सम्प्रेषित करते हैं, जो सामान्य उपदेश से श्रेष्ठ एवं अधिक प्रभावक होती है। इसलिए मम्मटादि आचार्यों ने काव्य को कान्तासम्मित उपदेश कहकर शेष दो उपदेश पद्धतियों (प्रभुसम्मित एवं मित्र सम्मित) से श्रेष्ठ उद्घोषित किया है।^१

काव्य शरीर की आत्मा रस है तो बाह्यशोभादायक तत्त्व अलंकार।^२ अलंकार, काव्य-वनिता के सौन्दर्य-श्री की समृद्धि तो करते ही हैं साथ ही अभिव्यक्ति में वैचित्र्य भी उत्पन्न करते हैं। अलंकारों में उपमा प्रसिद्ध है। इसी कारण लगभग सभी साहित्याचार्यों ने इसका निरूपण किया है। गार्ग्य, यास्कादि प्राचीन नैरुक्ताचार्य, पाणिनि, पतञ्जलि आदि वैयाकरण तथा भरत-दण्डी-मम्मटादि साहित्याचार्य—सबने इसके महत्त्व को स्वीकार करते हुए इसके स्वरूप पर प्रकाश डाला है।

उपमा में सादृश्य-सम्पादन का प्रामुख्य होता है।^३ उपमेय और उपमान का समान धर्म के आधार पर तुलना उपमा है। आचार्य मम्मट के शब्दों में—‘साधर्म्य-मुपमाभेदे’^४ अर्थात् उपमेय उपमान के साधर्म्य को उपमा कहते हैं। यहाँ कार्य-कारण आदि सम्बन्धों का ग्रहण नहीं होता है।^५

उपमा में चार तत्त्व होते हैं—उपमेय, उपमान, साधारण धर्म और उपमावाचक शब्द। जिसकी उपमा दी जाए वह उपमेय है, जो उपमान की अपेक्षा ह्रस्व गुणों वाला होता है और जिसे उपमा दी जाए वह उपमान है जो अधिक गुण वाला और लोक प्रसिद्ध होता है।

‘उप’ उपसर्ग पूर्वक ‘मा माने’ या ‘माङ्माणे’ शब्दे’ धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर “उपमान” शब्द बनता है जिसका अर्थ तुलना, समरूपता आदि है। ‘तुलना का मापदण्ड’ जिससे किसी अन्य की तुलना की जाए। साहित्याचार्यों ने अप्रस्तुत, अवर्ण्य, विषयी, अप्रकृत, अप्राकरणिक आदि अनेक नाम उपमान के बताए हैं। वामन के अनुसार ‘उपमीयते सादृश्यमानीयते येनोत्कृष्टगुणेनान्यत् तदुपमानम्’^६ अर्थात् जिससे उपमा दी जाती है वह उत्कृष्ट गुणवाला उपमान है। शोभाकर ने प्रसिद्ध गुणवाले को उपमान कहा है—‘प्रसिद्धगुणेनोपमानेन’।^७ इस प्रकार जिससे उपमा दी जाए वह

उपमान है और वह उपमेय की अपेक्षा उत्कृष्ट एवं प्रसिद्ध होता है ।

प्रस्तुत संदर्भ में उत्तराध्ययन सूत्र में प्रयुक्त उपमानों का विवेचन अवधेय है । उत्तराध्ययन सूत्र में प्राप्त उपमानों को निम्नलिखित दो वर्गों में विभाजित किया गया है :—(१) सजीव और (२) निर्जीव ।

१. सजीव वर्ग

- (क) मनुष्य वर्ग
- (ख) पशु वर्ग
- (ग) पक्षी वर्ग
- (घ) तिर्यञ्च वर्ग और
- (ङ) कीट-पतंगादि ।

२. निर्जीव वर्ग

- I. पर्वत
- II. जलीयस्रोत मूलक
- III. वनस्पति जगत्
- IV. प्रकाश मूलक अग्नि, दीपादि
- V. ग्रह-नक्षत्र वर्ग
- VI. अस्त्र-शस्त्र
- VII. धातु पदार्थ
- VIII. खाद्य पदार्थ और
- IX. विभिन्न ।

(क) मनुष्य वर्ग (राजन्य) —

अश्वारूढ दृढ पराक्रमी योद्धा

‘उत्तराध्ययन’ के ग्यारहवें अध्ययन में बहुश्रुत (मुनि) की उपमा अश्वारूढ दृढ पराक्रमी योद्धा से दी गई है :—

जहाइणसमारूढे सुरे दढपरक्कमे ।

उभओ नन्दिघोसेणं एवं हवइ बहुस्सुए ॥८

जिस प्रकार आकीर्ण अश्व पर चढ़ा हुआ दृढ पराक्रमी वाला योद्धा दोनों ओर बजने वाले वाद्यों के घोष से अजेय होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अपने आसपास होने वाले स्वाध्याय-घोष से अजेय होता है । यहां पर बहुश्रुत उपमेय के लिए ‘अश्वारूढ पराक्रमी योद्धा’-उपमान का प्रयोग सार्थक एवं सोद्देश्य है ।

शंखचक्र गदाधर-वासुदेव

‘बहुस्सुय पुज्जा’ अध्ययन में ही एक अन्य स्थल पर बहुश्रुत के लिए शंख-चक्र-गदाधारी व सुदेव को उपमान बनाया गया है :—

“जहा से वासुदेवे संखचक्रगयाधरे ।

अप्पडिहयबले जोहे एवं हवइ बहुस्सुए ॥”^{१४}

“जिस प्रकार शंखचक्र गदा को धारण करने वाला वासुदेव अबाधित बल वाला योद्धा होता है उसी प्रकार बहुश्रुत अबाधित बल वाला योद्धा होता है ।”

यहां इतिहास-प्रसिद्ध ‘वासुदेव’ को उपमान के रूप में ग्रहण किया गया है जो वीर-योद्धा, पराक्रमी तथा अपराजित थे । उसी प्रकार बहुश्रुत मुनि भी क्रोधादि शत्रुओं से सर्वथा अजेय होता है । लाख परिषह-शत्रुओं के उपस्थित होने पर भी वह पराजित नहीं होता है ।

चतुरन्त चक्रवर्ती

इसी प्रकार बहुश्रुत के विद्या-ऐश्वर्य को प्रतिपादित करने के लिए ‘चाउरन्ते चक्रवट्टी’ को उपमान बनाया गया है :—

जहा से चाउरन्ते चक्रवट्टी महिडिइए ।

चउदसरयणाहिबई एवं हवइ बहुस्सुए ॥

जिस प्रकार महान् ऋद्धिशाली चतुरन्त चक्रवर्ती चौदह रत्नों का अधिपति होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत चतुर्दश पूर्वधर होता है ।

‘चाउरन्त चक्रवट्टी’ का राज्य हिमालय से लेकर समुद्र तक चारों दिशाओं में व्याप्त होता है । वह हाथी, अश्व, रथ और मनुष्य इन चारों के द्वारा शत्रु का अन्त करने वाला होता है तथा चौदह रत्नों—सेनापति गाथापति आदि का स्वामी होता है, उसी तरह बहुश्रुत का विद्या-राज्य चतुर्दिक व्याप्त रहता है या तप, दया, दान करुणादि के द्वारा परिषह शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है । वह चतुर्दश पूर्वों का स्वामी भी होता है । यहां बहुश्रुत की बहुज्ञता एवं पराक्रमशीलता को उद्घाटित किया गया है ।

भृत्यविहीन-रणभूमि में राजा

पुरोहित भृगु की असहाय दशा को चित्रित करने के लिए इस उपमान की प्रस्तुति की गई है :—

पंखाविहूणो व्व जहेह पक्खी भिच्छा धिहूणो व्व रणेनरिन्दो ।

विवन्नसारो वणिओ व्व पोए पहीणपुत्तो मि तहा अह पि ॥^{१५}

बिना पंख का पक्षी रणभूमि में सेना रहित राजा और जलपोत पर धनरहित व्यापारी जैसा असहाय होता है पुत्रों के चले जाने पर मैं भी वैसा ही हो गया हूँ ।

‘पुत्रविहीन पिता का जीवन असार है’ इस लोकप्रसिद्ध तथ्य को प्रतिपादित करने के लिए तीन उपमानों—पंखरहित पक्षी, सेनारहित राजा और जलपोत पर धनरहित व्यापारी आदि का प्रयोग किया गया है । पंखविहीन-पक्षी, रणभूमि में सेनारहित राजा एवं जलपोत पर धनरहित व्यापारी असहाय होता उसी प्रकार भृगु-पुरोहित भी पुत्ररहित होने से असहाय हो गया । यहां पर लोक-सिद्ध उपमानों का

विनियोजन किया गया है ।

(ख) व्यापारी

इस संवर्ग में ऐसे उपमानों का संग्रहण किया गया है जो किसी न किसी व्यापार से सम्बद्ध हैं । उत्तराध्ययन में अनेक स्थलों पर जागरूकता, लक्ष्य के प्रति सतर्कता, संयम, कर्त्तव्य के प्रति उत्तरदायित्व आदि गुणों को उद्घाटित करने के लिए श्रेष्ठ पेशेवरों एवं विषण्णता, कायरता, खिन्नता आदि निकृष्ट भावों की अभिव्यञ्जना के लिए अनुत्तम कोटी के पेशेवरों को उपमान के रूप में उपस्थापित किया गया है ।

अश्ववाहक

रमए पण्डिएं सासं ह्यं मद्दं व वाहए ।

बालं सम्मइ सासन्तो गलियस्सं व वहए ॥^{१२}

जैसे उत्तम घोड़े को हाँकते हुए उसका वाहक आनन्द पाता है वैसे ही पंडित (विनीत) शिष्य पर अनुशासन करता हुआ गुरु आनन्द पाता है । जैसे दुष्ट घोड़े को हाँकते हुए उसका वाहक खिन्न होता है वैसे ही अविनीत शिष्य पर अनुशासन करता हुआ गुरु खिन्न होता है ।

प्रस्तुत संदर्भ में आचार्य (गुरु) की उपमा अश्ववाहक से विनीत शिष्य की श्रेष्ठ अश्व से एवं अविनीत की दुष्ट घोड़े से दी गई है । श्रेष्ठ अश्व शीघ्र ही गन्तव्य मार्ग पर चल देता है इसलिए उसका वाहक प्रसन्न होता है । उसी प्रकार 'इंगियागार संवन्न' शिष्य निर्देश मात्र से करणीय को ग्रहण कर लेता है, इसलिए आचार्य प्रसन्न होते हैं लेकिन अविनीत अडियल घोड़े की तरह होता है । खुद तो कष्ट पाता ही है गुरु को भी कष्ट देता है ।

वणिक्

साहस अदम्य-उत्साह एवं निर्भीकता को प्रतिपादित करने के लिए वणिक् को उपमान बनाया गया है :—

‘अह सन्ति सुव्वया साहू जे तरन्ति अतरं वणिया वा ॥’^{१३}

—“अर्थात् जो सुव्रती साधु है वे दुस्तर काम भोगों को उसी प्रकार तर जाते हैं जैसे वणिक् समुद्र को ।” यहाँ पर सुव्रती साधु की उपमा वणिक् से एवं कामभोगों की उपमा सागर से दी गई है । जैसे वणिक् अपने साहस, धैर्य एवं पराक्रम के कारण अगाध दुस्तर सागर का संतरण कर अनन्त धन को पा जाता है उसी प्रकार सुव्रती साधु काम-भोगादि रूप परिषह-समुद्र को संतरित कर मोक्ष-रूप बहुमूल्य सम्पत्ति को प्राप्त करता है । आगमों में अनेक स्थलों पर ‘वणिक्’ को उपमान बनाया गया है ।

बलहीन-भारवाहक

विषण्णता, क्लिन्नता एवं असमर्थता आदि भावों को प्रतिपादित करने के लिए बलहीन-भारवाहक को उपमान बनाया गया है :—

अबले जह भारवाहए मा मग्गे विसमे बगाहिया ।

पच्छा पच्छाणुतावए समयं गोयम ! मा पमायए ॥”

“बलहीन भारवाहक की भांति तू विषम मार्ग में मत चले जाना । विषम-मार्ग में जाने वाले को पछतावा होता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।”

यहां प्रमादी मुनि की उपमा बलहीन-भारवाहक से दी गई है । बलहीन-भारवाहक भार को उठाने में अक्षम होने से कष्ट पाता है, विषण्ण होता है, पछताता है, उसी प्रकार प्रमाद में फंसा मुनि भी पछताता है ।

भार त्यागने वाला भारवाहक

स्वस्थता, प्रसन्नता आदि उत्कृष्ट भावों के विवेचन के लिए भार को त्याग देने वाले भारवाहक को उपमान बनाया गया है :—

“काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ ।

विमुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वयहियए ‘ओहरियभारोव्व’

भारवहे पसत्त्यज्झाणोवगए सुहंसुहेणं विहरइ ॥”

कायोत्सर्ग से वह अतीत और वर्तमान के प्रायश्चित्तोचित कार्यों का विशोधन करता है । ऐसा करने वाला व्यक्ति भार को नीचे रख देने वाले भार-वाहक की भांति स्वस्थ हृदयवाला हो जाता है और प्रशस्त ध्यान में लीन होकर उत्तरोत्तर सुखपूर्वक विहार करता है ।

भारवाहक भार रखकर प्रसन्नचित्त होकर आनन्द का अनुभव करता है उसी प्रकार कायोत्सर्ग के द्वारा जीव अपने संचित कर्म रूपी भार का विशोधन/परित्याग कर परमध्यान में लीन हो आनन्द प्राप्त करता है ।

(ग) अन्य—

सामाजिक

बहुश्रुत मुनि की बहुज्ञता एवं श्रुतपूर्णता को उपस्थापिक करने के लिए समुदाय-वृत्तिवाले सामाजिक को उपमान के रूप में निरूपित किया गया है :—

जहा से सामाइयाणं कोट्टागारे सुरबिखए ।

नाणाधन्नपडिपुण्णे एवं हवइ बहुस्सुए ॥”

जिस प्रकार सामाजिकों (समुदाय वृत्ति वालों) का कोष्ठागार सुरक्षित और अनेक प्रकार के धान्यों से परिपूर्ण होता है उसी प्रकार बहुश्रुत नाना प्रकार के श्रुत से परिपूर्ण होता है ।

यहां बहुश्रुत की उपमा समुदाय वृत्ति सम्पन्न सामाजिक से दी गई है ।

गोपालक एवं भाण्डपालक

कामुक रथनेमि को प्रबोध देने के लिए गोपाल एवं भाण्डपाल को उपमान बनाया गया है :—

खण्ड १८, अंक ३ (अक्टू०-दिस०, ९२)

२४९

गोवालो भाण्डवालो वा जहा तद्भवऽग्निस्सरो ।
एवं अग्निस्सरो तं पि सामण्यस्त भविस्ससि ॥^{१०}

“जैसे गोपाल एवं भाण्डपाल गायों एवं भण्डार के स्वामी नहीं होते, इसी प्रकार तू भी श्रामण्य का स्वामी नहीं होगा ।”

शील-सुन्दरी राजीमती कामुक रथनेमि को प्रबोध दे रही है। वह अधकचरा साधु राजीमती के अंग-लावण्य को देखकर कामासक्त हो जाता है। राजीमती उसे प्रतिबोधित करती है। जैसे गोपाल केवल गायों की सेवा करते हैं भाण्डपाल भण्डार की रक्षा करते हैं लेकिन उन्हें स्वामित्व-अधिकार की प्राप्ति नहीं हो पाती, वैसे हे रथनेमि तुझे भी श्रामण्यधन की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए, हे श्रमण! आसक्ति का परित्याग कर ‘इन्दियाई वसे काउं अप्पाणं उवसंहरे’—इन्द्रियों को अपने अधीर बना तथा अपने शरीर का उपसंहार कर—उसे अनाचार से निवृत्त कर ।

धुरी टूटे हुए गाड़ीवान्

शोक एवं विषण्णता के भाव को प्ररूपित करने के लिए ‘धुरी टूटे हुए गाड़ीवान्’ को उपमान बनाया गया है :—

एवं धम्मं विउक्कम अहम्मं पडिवज्जिजा ।

बाले मच्चु मुहं पत्ते अवखे भग्गे व सोयई ॥^{११}

इसी प्रकार धर्म का उल्लंघन कर, अधर्म को स्वीकार कर मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ अज्ञानी धुरी टूटे हुए गाड़ीवान् की तरह शोक करता है। यहां पर अज्ञानी मनुष्य की उपमा धुरी टूटे हुए गाड़ीवान् से दी गई है। धुरी के बिना गाड़ी नहीं चल सकती, गन्तव्य को पार नहीं किया जा सकता उसी प्रकार धर्म के बिना मृत्यु को पार नहीं किया जा सकता है ।

धूर्त्त (जुआरी)

शोक भाव के निरूपण के लिए जुआरी को उपमान बनाया गया है —

तओ से मरणन्तंमि बाले सन्तस्सई भया ।

अकाम मरणं मरई धुते व कलिना जिए ॥^{१२}

मरणान्त समय में वह अज्ञानी मनुष्य परलोक के भय से संव्रस्त होता है और एक ही दाव में हार जाने वाले जुआरी की तरह शोक करता हुआ अकाम-मरण से मरता है ।

यहां अज्ञानी मनुष्य की उपमा जुआरी से दी गई है। एक ही दाव में हारकर जुआरी शोक करता हुआ अनिच्छा-मृत्यु से मरता है वैसे ही अज्ञानी मनुष्य परलोक से डरता हुआ अकाम-मरण को प्राप्त होता है ।

प्रणष्टदीप (अंधेरे में बुझे दीपक वाला पुरुष)

अज्ञानता आदि निकृष्ट भावों के निबन्धन के लिए एक स्थल पर प्रणष्टदीप पुरुष को उपमान बनाया गया है :—

दीव-पण्डु व अणन्त मोहे, नेयाउयं दटठुमदटठुमेव ॥^{१०}

“अंधेरी-गुफा में जिसका दीपक बुझ गया हो उसकी भांति अनन्त मोह वाला प्राणी पार ले जाने वाले मार्ग को देखकर भी नहीं देखता है।” यहां पर अनन्त मोह-युक्त प्राणी की उपमा अंधेरी-गुफा में जिसका दीप बुझ गया है वैसे पुरुष से दी गई है। अंधेरी गुफा में दीप के बुझ जाने से जीव भ्रमित हो जाता है, बाहर निकलने का मार्ग उसे दिखाई नहीं पड़ता है। उसी प्रकार मोहासक्त जीव गन्तव्य तक ले जाने वाले मार्ग को नहीं देख पाता है। संसार में ही भटक कर विषण्ण होता है। यह उपमान अत्यन्त सारगर्भित है।

पशु वर्ग

उत्तराध्ययन सूत्र में अनेक पशुओं को उपमान के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उत्कृष्ट भावों की अभिव्यंजना के लिए श्रेष्ठ हाथी, अश्व एवं सिंहादि को तथा निकृष्ट भावों की प्रतिपादना के लिए मृगादि पशुओं को उपमान बनाया गया है :—

हाथी

धैर्य, साहस, गंभीरता, शक्तिमत्ता आदि गुणों को उद्घाटित करने के लिए श्रेष्ठ हाथी को उपमान के रूप में उपस्थापित किया गया है।

नाग (श्रेष्ठ हाथी)

अजेयता एवं अदम्य शौर्य-वीरत्व आदि भावों को प्रतिपादित करने के लिए नाग को उपमान के रूप में चित्रित किया गया है :—

पुट्टो य दंसमसएहिं समरेव महामुणी ।

नागो संगाम सीसे वा सूरुो अभिहणे परं ॥^{११}

“डांस और मच्छरों का उपद्रव होने पर भी महामुनि समभाव में रहे, क्रोधादि का वैसे ही दमन करे जैसे युद्ध के अग्रभाग में रहा हुआ शूर हाथी बाणों को नहीं गिनता हुआ शत्रुओं का हनन करता है।” यहां मुनि की उपमा हाथी से तथा अमूर्त्त क्रोधादि की शत्रुओं से दी गई है। जैसे हाथी संग्राम क्षेत्र में बाणों के घाव को जीतकर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है उसी प्रकार मुनि—संयमी साधक क्रोधादि परिषर्हों को जीतकर संयम मार्ग में निरत होता है।

कुंजर

अजेय-भाव के निरूपण के लिए कुंजर (हथिनियों से परिवृत्त कुंजर) को उपमान बनाया गया है :—

जहा करेणु परिक्किणे कुंजरे सट्टिहायणे ।

बलवन्ते अप्पडिहए एवं हवइ बहुस्सुए ॥^{१२}

“जिस प्रकार हथिनियों से परिवृत्त साठ वर्ष का बलवान् हाथी किसी से पराजित नहीं होता उसी प्रकार बहुश्रुत दूसरों से पराजित नहीं होता है।” बहुश्रुत

की उपमा हथिनि परिवृत्त षष्ठीवर्षायुष्क—हाथी से दी गई है। इस उपमान से बहुश्रुत की शक्तिमत्ता एवं परिपक्वता को उद्घाटित किया गया है।

पंकजलावसन्न हाथी

अशक्तता एवं असमर्थता को निरूपित करने के लिए पंक-जल में निमग्न हाथी को उपमान बनाया गया है :—

नागो जहा पंक जलावसन्नो, दट्टं थलं नाभिसमेइ तीरं ।

एवं वयं कामगुणेषु गिद्धा न भिक्खुणो भग्गमणुव्वयामो ॥^{१३}

जैसे पंक-जल (दलदल) में फंसा हुआ हाथी स्थल को देखता हुआ भी किनारे पर नहीं पहुंच पाता वैसे ही काम गुणों में आसक्त बने हुए हम श्रमण-धर्म को जानते हुए भी उसका अनुसरण नहीं कर पाते। यहाँ कामासक्त जीव की उपमा दलदल में फंसे हाथी से दी गई है। दलदल में फंसा हाथी इतना असक्त और अक्षम हो जाता है कि सामने विद्यमान स्थल को प्राप्त नहीं कर पाता, वैसे ही कामादि में आपादमस्तक निमज्जित जीव श्रेय मार्ग—श्रमणधर्मरूपी मार्ग को न देखकर अनन्त दुःख को प्राप्त होता है।

अन्यत्र भी हाथी को उपमान के रूप में उपस्थापित किया गया है। '१४।४८' में सामर्थ्य एवं पराक्रम को उद्घाटित करने के लिए हाथी को उपमान बनाया गया है :—

नागो व्व बन्धणं छित्ता ॥^{१४}

एक स्थल पर भिक्षु की उपमा नागराज से दी गई है। जैसे नागराज (हाथी) बाणों की चोट खाकर व्यथित नहीं होता है। शत्रुपक्ष पर विजय प्राप्त करता है। उसी प्रकार भिक्षु परिषहों के उपस्थित होने पर स्थिर एवं दृढ़ रहकर जयी होता है :—

ते तत्थ पत्ते न वहिज्ज भिक्खू संगामसीसेइव नागरायो ॥^{१५}

सिंह

संयम, पराक्रम, वीरता, धीरता, जागरूकता एवं अभयता आदि गुणों को उद्घाटित करने के लिए उत्तराध्ययन में अनेक स्थलों पर सिंह को उपमान बनाया गया है। एक स्थल पर बहुश्रुत की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करने के लिए तीक्ष्ण दाढ़ वाले युवा अधृष्य सिंह को उपमान बनाया गया है :—

जहा से तिक्खदाढे उदग्गे कुप्पहंसए ।

सीहे मियाण पवरे एवं हवइ बहुरुसुए ॥^{१६}

एक स्थल पर मृत्यु की भयंकरता एवं निश्चितता को निरूपित करने के लिए सिंह को उपमान के रूप में उपन्यस्त किया गया है :—

जहेह सीहो व मियं गहाय मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले ।

न तस्स माया व पिया वा माया कालम्मि तम्मिसहरा भवंति ॥

जैसे सिंह हरिण को पकड़ कर ले जाता है, उसी प्रकार अन्तकाल में मृत्यु मनुष्य को ले जाती है। काल आने पर उसके माता-पिता या भाई अंशधर नहीं होते—अपने जीवन का भाग देकर बचा नहीं पाते। यहां मृत्यु की उपमा सिंह से तथा मनुष्य की उपमा मृग से दी गई है। सिंह निश्चय ही मृग को निगल जाता है, कोई शक्ति नहीं जो बचा सके, अर्थात् सिंह का प्रहार अमोघ होता है उसी प्रकार मृत्यु भी निश्चित है। मृत्यु के मुख से कोई भी प्राणी बच नहीं सकता और न कोई अन्य उसे बचा सकता है। इसी तथ्य का प्रतिपादन सिंह के उपमान से किया गया है।

साधु की अभयता एवं सहनशीलता को प्रतिपादित करने के लिए भी एक स्थल पर सिंह को उपमान के रूप में गृहीत किया गया है :—

सीहो व सद्देण न संतसेज्जा ।
वयजोग मुच्चा न असम्भमाहु ॥^{१७}

अर्थात् साधु (मुनि) सिंह की भांति भयावह शब्दों से संत्रस्त न हो। वह कुवचन सुनकर असभ्य वचन न बोले। 'सिंह अरण्य-कोलाहल के बावजूद भी अभय होकर जंगल में विचरण करता है उसी प्रकार मुनि भी भयरहित होवे' इस तथ्य का प्रतिपादन प्रस्तुत संदर्भ में अवधेय है।

मृग

असमर्थता, कायरता एवं कामासक्तता आदि निकृष्ट भावों के अभिव्यञ्जन के लिए उत्तराध्ययन में कुछ स्थलों पर मृग को उपमान बनाया गया है। एक सुन्दर प्रसंग द्रष्टव्य है :—

पासेहि कूडजालेहि मिओ वा अवसो अहं ।
वाहिओ बद्धच्छो अ बहुसो चेव विवाइओ ॥^{१८}

“पाशों और कूट जालों द्वारा मृग की भांति परवश बना हुआ मैं अनेक बार ठगा गया, बांधा गया, रोका गया और मारा गया हूँ।” पूर्व भव-प्रतिबोध प्राप्त मृगापुत्र की यह उक्ति है। देह-गेह में आसक्त होकर असमर्थ एवं शक्तिहीन बने हुए जीव की उपमा मृग से दी गई है। जाल में फंसा मृग असमर्थ एवं असहाय अवस्था में विषण्ण होता हुआ मृत्यु को प्राप्त करता है, उसी प्रकार अप्रतिबुद्ध जीव भी संसार-जाल में फंसकर अनन्त दुःखों को भोगता हुआ बार-बार मृत्यु का ग्रास बनता है।

अश्व

उत्तराध्ययन सूत्र में अनेक स्थलों पर उत्कृष्ट भावों की अभिव्यञ्जना के लिए सुन्दर अश्व, शिक्षित अश्व एवं कथक घोड़ा को तथा निकृष्ट भावों को प्ररूपित करने के लिए गलिताश्व को उपमान बनाया गया है।

मा 'गलियस्से व' कसं वयणमिच्छे पुणो पुणो ।
कसं व दट्ठमाइण्णे पावगं परिवज्जए ॥^{१९}

‘जैसे अविनीत घोड़ा चाबुक को बार-बार चाहता है वैसे विनीत शिष्य गुरु के वचन को बार-बार न चाहे। जैसे विनीत घोड़ा चाबुक को देखते ही उन्मार्ग को छोड़ देता है, वैसे ही विनीत शिष्य गुरु के इंगित को देखकर अशुभ प्रवृत्ति को छोड़ दे।’ यहाँ विनीत शिष्य की उपमा आकीर्ण-श्रेष्ठ घोड़े से दी गई है।

१.३७ में सुशिष्य की उपमा भद्राश्व से तथा बाल (अविनीत) की गलिताश्व से दी गई है।

४.८ में स्वच्छन्दता-निरोधक मुनि की उपमा तनुत्राणधारी भश्व से दी गई है। इस उपमान के द्वारा मुनि के संसार-पार-गामित्व शक्ति का प्रतिपादन किया गया है।

११.१६ में बहुश्रुत मुनि के शील-चारित्र्यादि श्रेष्ठ गुणों को उद्घाटित करने के लिए आकीर्ण कन्धक (श्रेष्ठ जाति) घोड़े को उपमान बनाया गया है :—

जहा से कम्बोयाणं आइण्णे कन्धए सिया ।
आसे जवेण पवटे एवं हवइ बहुस्सुए ॥^{१०}

वृषभ

उत्कृष्ट शोभा एवं पराक्रम को प्रतिपादित करने के लिए शक्तिशाली वृषभ को तथा निकृष्ट भावों के द्योतन के लिए कमजोर बैल को उपमान बनाया गया है। एक स्थल पर बहुश्रुत की श्रेष्ठता को निरूपित करने के लिए तीक्ष्ण सींगों एवं पुष्ट स्कन्ध वाले साढ़ को उपमान के रूप में चित्रित किया गया है :—

जहा से तिक्खंसिणे जायखन्धे विरायई ।
वसहे जूहाहिवई एवं हवइ बहुस्सुए ॥^{११}

एक स्थल पर अयोग्य शिष्यों की अक्षमता को प्ररूपित करने के लिए कमजोर बैल को उपमान बनाया गया है :—

खलुंका जारिसा जोज्जा दुस्सीसा वि हु तारिसा ।
जोइया धम्मजाणम्मि भज्जन्ति घिइदुब्बला ॥^{१२}

महिष

अधीरता, असमर्थता, आतुरता एवं कामासक्तता आदि भावों को उद्घाटित करने के लिए उत्तराध्ययन सूत्र में अनेक स्थलों पर महिष को उपमान बनाया गया है :—

हुयासणे जलन्तम्मि चियासु महिसो विव ।
दढ्ढो पक्को य अवसो पावकम्मेहि पाविओ ॥^{१३}

यहाँ पापकर्मावृत्त और परवश जीव की उपमा अग्नि की चित्ता जलाए जाते हुए भैसे से तथा पापकर्मी की उपमा अग्नि-चित्ता से दी गई है।

‘इन्द्रिय सुख स्पर्शादि में आसक्त जीव अकाल में ही मृत्यु को प्राप्त होता है’ इस तथ्य की अभिव्यञ्जना के लिए एक स्थल पर शीतल-जल-स्पर्श में मग्न भैसे को उपमान बनाया गया है :—

पासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं ।

रागाउरे सीयजलावसन्ने गाह्गहीए महिसे व डरन्ने ॥^{१४}

यहां मनोज्ञ-स्पर्शों में आसक्त जीव की उपमा शीतल स्पर्श में आसक्त भैसे से दी गई है ।

गलि-गर्दभ (आलसी गधा)

अविनीतता, आलस्य एवं निकम्पापन को प्रतिपादित करने के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ में गलिगर्दभ को उपमान के रूप में निरूपित किया गया है । एक स्थल पर गर्गाचार्य के दुष्ट शिष्यों की उपमा गलिगर्दभ से दी गई है :—

जारिसा मम सीसाउ तारिसा गलिगद्धहा ॥^{१५}

गर्गाचार्य के शिष्य दुर्विनीत थे । उन्होंने शिष्यों को पढ़ाया भरण-पोषण किया लेकिन सबके सब कुशिल्य बन गए । वे योग्य बनकर वैसे ही बन गए जैसे पंख आने पर हंस (विभिन्न दिशाओं में प्रकमण कर जाते हैं) ।

बिडाल

एक स्थल पर बिडाल को उपमान बनाया गया है :—

जहा विरालावसहस्स मूले न मूसगाणं वसही पसत्था ।

एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे न बम्भयारिस्स खमो निवासो ॥^{१६}

“जैसे बिल्ली की बस्ती के पास चूहों का रहना अच्छा नहीं होता, उसी प्रकार स्त्रियों की बस्ती के पास ब्रह्मचारी का रहना अच्छा नहीं होता ।” बिल्ली के गांव के पास चूहों की बस्ती हो तो चूहों की मृत्यु निश्चित है । चूहे बिल्ली के ग्रास हैं । उसी प्रकार ब्रह्मचारी भी स्त्रियों के पास नहीं रह सकते ।

इस प्रकार अनेक सार्थक एवं सटीक उपमानों का प्रयोग उत्तराध्ययन में उपन्यस्त है । □

पाद टिप्पण

१. काव्यप्रकाश १
२. काव्यादर्श २.१
३. तत्रैव २.४
४. काव्यप्रकाश १०.८७
५. तत्रैव १०.८७ पर वृत्ति
६. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति ४.२१
७. अलंकार रत्नाकर ७
८. उत्तराध्ययन सूत्र, जैन विश्व भारती ११.१७

९. तत्रैव ११.२१
११. ,, ४.३०
१३. ,, ८.६
१५. ,, २९.१२
१७. ,, २२.४५
१९. ,, ५.१६
२१. ,, २१०
२३. ,, १३.३०
२५. ,, २१.१७
२७. ,, २१.१४
२९. ,, १.१२
३१. ,, ११.१९
३३. ,, १९.५७
३५. ,, २७.१६

१०. तत्रैव ११.२२
१२. ,, १.३७
१४. ,, १०.३३
१६. ,, ११.२६
१८. ,, ५.१५
२०. ,, ४.५
२२. ,, ११.१८
२४. ,, १४.४८
२६. ,, ११.२०
२८. ,, १९.६३
३०. ,, ११.१६
३२. ,, २७.८
३४. ,, ३२.७६
३६. ,, ३२.१३

“जे किर भवसिद्धीया, परित्त संसारिआय भविआय ।
 ते किर पढंति धीरा, छत्तीसं उत्तरज्झयणे ॥
 जे हुंति अभविसिद्धीया, गंथिअसत्ताअणंतसंसारा ।
 ते संकिलिट्ठ कम्पा, अभविय उत्तरज्झाए ॥
 तमहाजिणपन्नत्ते अणंतगमपज्जवेहि संजुत्ते ।
 अज्झाए जहाजोगं, गुरुपसाया अहिज्झिज्जा ॥”

पुरतक समीक्षा

१. जैन धर्म और भक्ति—(आचार्य कुन्दकुन्द के सन्दर्भ में) । लेखक—
डॉ० प्रेमसागर जैन । प्रकाशक—दिगम्बर जैन मुनि विद्यानंद शोधपीठ,
बड़ौत (मेरठ) । प्रथमसंस्करण—सन् १९६१ । मूल्य—१५ रुपये ।
पृष्ठ १०३+१२ ।

प्राचीन भक्ति साहित्य में शांडिल्य भक्ति सूत्र, नारद भक्तिसूत्र, पराभक्तिसूत्र और भक्ति मीमांसा सूत्र आदि बहुत प्राचीन हैं ये भक्ति साहित्य की विशालता और उसमें जन अभिरूचि के व्यापक विस्तार को प्रमाणित करते हैं। 'भक्ति मीमांसा' में श्रीमद् भागवत पुराण की मान्यता का समर्थन है कि भक्ति, मोक्ष से भी अधिक गरीयसी है। मीमांसा सूत्रकार ने स्वयं कह भी दिया है—“भक्तिरेव परमः पुरुषार्थो मोक्षस्या-पुरुषार्थत्वादिति तु भागवताः”—(४.१.७) अर्थात् भक्ति ही पुरुषार्थ है। मोक्ष पुरुषार्थ नहीं। यह भागवतों का मत है।

भक्ति दो प्रकार की है। जो भक्ति काम, द्वेष, भय और स्नेह वश होती है वह अविहिता (निषिद्धा) कही जाती है। विहिता भक्ति को पं० बोपदेव (१३ वीं सदी) ने ३६ अंगों में विभक्त करके, उसमें से त्रिवर्ग—श्रवण, कीर्तन, स्मरण को अंतरंगतम भवत्यंग कहा है। भक्ति के ३६ अंग क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) ब्रह्म निष्ठ गुरु के प्रति शरणागति, (२) मन की सर्वतः असंगता, (३) सत्संग (४) प्राणियों के प्रति यथोचित दया, मैत्री और विनय (५) शौच (६) तप (७) तितिक्षा (८) मौन (९) स्वाध्याय (१०) सरलता (११) ब्रह्मचर्य (१२) अहिंसा (१३) सुख दुःख आदि द्वन्द्वों में समत्व (१४) सर्वत्र परमात्म दर्शन (१५) एकांत सेवन (१६) अनिकेता (गृहादि में अनासक्ति) (१७) पवित्र वस्त्र धारण (१८) संतोष (१९) भगवच्छास्त्रों में श्रद्धा (२०) अन्य शास्त्रों की निन्दा न करना (२१) मन वाणी कर्म का संयम (२२) सत्यभाषण (२३) शम(अंतःकरण का निग्रह) (२४) दम(ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का निग्रह) (२५) भगवत् गुण श्रवण (२६) कीर्तन (२७) ध्यान (२८) भगवदर्थ कर्म (२९) सर्वस्व भगवदर्पण (३०) भगवद् भक्तों से प्रेम (३१) स्थावर जंगम जगत् और साधु-महात्माओं की सेवा, (३२) परस्पर भगवद् गुण कथन (३३) परस्पर प्रेम (३४) परस्पर शांति, संतोषप्रद आचरण (३५) स्वयं भगवत् स्मरण और (३६) दूसरों को भगवत् स्मरण कराना।

इन ३६ प्रकारों में सात, छह, पांच, चार और तीन क्रमशः अंतरंग भक्ति अंग कहे गए हैं। अपनी माता देवहृति को मुनि कपिल ने भक्ति के सात, श्री कृष्ण को

नलकूबर ने छह और श्रुत देव ने पांच अंग बताए हैं जबकि अंत में चार और तीन अंग नितांत जरूरी कहे गए हैं—

तस्मादेकेन मनसा भगवान्सात्वतां पतिः ।

श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा ॥

कि सर्वदा एकाग्र चित्र से भगवद् गुण श्रवण, कीर्तन, ध्यान और पूजन नित्य करते रहना चाहिए। भक्ति मीमांसाकार कहता है—**भवतेः फलमीश्वरवशीकारः।**
—कि भक्ति से भगवान् बश में हो जाते हैं।

भारतवर्ष में भक्ति का उद्गम बहुत प्राचीन है। शाण्डिल्य के अनुसार—**भक्तिः प्रमेया भृतिभ्यः—**कि भक्ति को निगमागम से प्रमाणित किया जा सकता है। उपनिषद् में भी भक्ति को अपरिहार्य बताया गया है—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिताह्वर्याः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

—श्वेताश्वेतर उप० (६.२३)

अर्थात् ज्ञान के तत्त्व भी उसे ही स्पष्ट होते हैं जो देव और गुरु में पराभक्ति रखे। 'पराभक्ति सूत्र' में भी यही कहा गया है—**भजनीय तत्त्व ज्ञानं सालोक्याद् यश्च तत्फलम् ।**

'जैन धर्म और भक्ति'—शीर्षक अपने प्रस्तुत प्रबन्ध में डॉ० प्रेमसागर जैन ने भक्ति तत्त्व को बहुविध और बारम्बार विस्पष्ट करने के लिए जैन साहित्य के सभी अंग-प्रत्यंगों के संदर्भ दिए हैं, एतदर्थ उन्होंने कहीं भी पुनरुक्ति से बचने की चेष्टा नहीं की। प्रायः प्रत्येक पृष्ठ पर अपनी मान्यता को दोहरा दिया है। अभिभाषण अथवा प्रवचन के लिए यह बहुत रुचिकर हो सकता है किन्तु अपना सिद्धांत (थीसिस) स्थापित करने के लिए संभवतः यह तरीका ठीक नहीं।

आचार्य कुन्दकुन्द उपर्युक्त शांडिल्य, नारद, पराभक्ति और भक्ति मीमांसा-सूत्र-कारों के समकक्ष और संभवतः समकालीन भी, प्राकृत भाषा में लिखने वाले गाथाकार हैं। इसलिए अधिक वरेण्य हैं। डॉ० प्रेमसागर ने आचार्य कुन्दकुन्द के भक्तिपाठ को सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्र्यभक्ति, योग भक्ति, आचार्य भक्ति, तीर्थंकर भक्ति, पंच गुरु भक्ति और निर्वाण भक्ति-उपशीर्षकों से संकलन किया है। संकलन अच्छा है। यदि उसका अर्थ और संदर्भ भी दे दिया जाता तो उनके सिद्धांत-प्रतिपादन संबंधी यह सर्वोत्तम आधार हो जाता।

आचार्य कुन्दकुन्द का कथन कि वीतरागी भगवान् के प्रति अनुराग सम्यग्दृष्टि होता है। सिद्धों की भक्ति से सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होता है। तीर्थंकर ही आत्मदेव हैं। भक्ति के द्वारा रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। शुद्ध ज्ञानरूप आत्मा ही चैत्य हैं और और चैत्यों की पूजा-वन्दना की जानी चाहिए। उत्तम क्षमा के प्रतीक आचार्य भक्ति योग्य हैं क्योंकि वे रत्नत्रय-सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र्य-के उपासक होते हैं। इत्यादि से स्पष्ट होता है कि वे सम्यक्त्व मूला भक्ति के उपासक थे। नियम-

सार के परम भक्ति अधिकार अध्याय में उन्होंने लिखा है कि जो श्रावक और मुनि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य रूप रत्नत्रय में लगन लगाता है उसे निर्वाण भक्ति प्राप्त हो जाती है ।

वस्तुतः समीक्ष्य पुस्तक में “जैन धर्म और भक्ति” विषयक प्रभूत् सामग्री का संकलन हो गया किन्तु उसमें से सारतत्त्व निकालने का उत्तरदायित्व लेखक ने पाठक पर छोड़ दिया है । कतिपय प्रसंगों में भक्ति की सदाशयता को भी भुला दिया लगता है फिर भी विचारोत्तेजक होने से पुस्तक पठनीय है ।

२. भारतरत्न डॉ अम्बेडकर और बौद्ध धर्म । लेखक—डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर । प्रकाशक—सम्मति रिसर्च इन्स्टीट्यूट ऑफ इन्डोलोजी (आलोक प्रकाशन) सदर, नागपुर । प्रथम संस्करण—१९९१ । मूल्य—साठ रूपए । पृष्ठ—१७६+८१ ।

डॉ० भीमराव अम्बेडकर सदियों से शोषित, समाज बहिष्कृत, पदलित, उपेक्षित और अछूत-अस्पृश्य माने जाने वाले जाति-वर्गों के प्रतिनिधि थे । महाराष्ट्र की सन् १९३१ की जनगणना में ऐसे जाति-वर्गों की संख्या ४२९ थी जिनमें महार, चमार, मंगी, चण्डाल आदि प्रमुख मानी जाती थीं । डॉ० अम्बेडकर महार (महार्ह=सर्वाधिक पूजनीय) जातिवर्ग में जन्में और महारों को पुनः अपना गौरव दिलाने के लिए जीवन भर सतत संघर्ष करते रहे ।

महाराष्ट्र में १९ वीं सदी तक पेशवा (चितपावन ब्राह्मणों का) शासन था और उस शासन में अस्पृश्य जातियों को एक हाथ में झाड़ू और दूसरे में धुंके का बर्तन तथा शरीर पर मात्र एक लंगोटी लगाकर घर से बाहर निकलना पड़ता था । यह प्रथा सन् १८१७-१९ के मराठा युद्ध के बाद टूटनी शुरू हुई और उसके केवल ७१ वर्ष बाद, १४ अप्रैल १८९१ को डॉ० भीमराव का जन्म हुआ । इसलिए अस्पृश्यता के कड़वे घूट पीकर आर्थिक विपन्नता के साथ समाज में प्रतिष्ठा पाने को उनके द्वारा किया गया संघर्ष, मानव—पुरुषार्थ का अनुकरणीय उदाहरण बन गया ।

डॉ० भागचन्द्र जैन ‘भास्कर’ को सन् १९७२ में पी डब्लू एस कॉलेज, नागपुर में डॉ० बाबासाहिब पर तीन भाषण देने पड़े तो उन्होंने उनपर लिखे और उन द्वारा लिखे साहित्य का अवलोकन किया । वे स्वयं बौद्ध साहित्य के अधिकारी विद्वान् हैं बाबासाहिब की पुस्तक—‘बुद्ध और उनका धर्म’ ने उन्हें बहुत प्रभावित किया और वे “डॉ० अम्बेडकर और बौद्ध धर्म” पर यह पुस्तक लिखने को प्रोत्साहित हुए । इसके अलावा डॉ० भास्कर का यह भी मानना है कि बौद्ध धर्म संसार में सर्वाधिक लोकप्रिय है । उसकी परम्परा को न मानने वाले भी उसके प्रशंसक हैं और संभवतः, उनकी राय में यही धर्म तीसरे विश्व युद्ध की विभीषिका से संसार को बचा सकता है ।

लेखक ने बौद्धधर्म और डॉ० अम्बेडकर के संबंध में बहुत सी बातें कहीं हैं जो बाबासाहिब के अनुयायी और बौद्धों के लिए महत्त्वपूर्ण हैं । राजनीतिक क्षेत्र में डॉ० अम्बेडकर और महात्मा गांधी में जो चूहे बिल्ली का-सा खेल चला उसका शायद यहां

पहली बार उद्घाटन हुआ है। जून सन् १९४६ में जब कैबिनेट मिशन ने विधान मण्डल में विधायकों को चुनने के लिए केवल मुस्लिम और सिक्खों को विशेष अधिकार दिया तो डॉ० अम्बेडकर स्वतंत्र उम्मीदवार बनें। २८ सितम्बर सन् १९५१ को अनुसूचित जातियों की विकास प्रक्रिया पर मतभेद होने से उन्होंने मंत्रि-मण्डल से त्यागपत्र दे दिया किन्तु जब उन्हें संविधान की ड्राफ्टिंग कमेटी का चेयरमैन चुना गया तो उन्होंने लिखा—“संविधान सभा में प्रवेश करते समय अस्पृश्य समाज के हितों की रक्षा करने के अलावा कोई अन्य उद्देश्य मेरे सामने नहीं था। मैं सोच भी नहीं सकता था कि संविधान सभा के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिए मेरा चयन होगा। जब मुझे ममोदा समिति में लिया गया तो मुझे आश्चर्य हुआ और जब मुझे मसोदा कमेटी का चेयरमैन चुना गया तो मेरा आश्चर्य चरम सीमा पर पहुंच गया।”

वस्तुतः संविधान के वे ही शिल्पी थे। शेष सदस्य तो अलंकारिक अधिक बनें। उन्होंने संविधान को मात्र ११४ दिनों में पारित करा दिया और छूआछूत जैसे सामाजिक दोष को अपराध रूप में स्वीकृत करा दिया। दूसरे कई क्षेत्रों में भी उन्होंने अद्भुत काम किया। जैसे अशोक चक्र, तीन शेरों का चिह्न आदि की प्रतिष्ठा कराना उन्हीं के बूते का काम था। “शिक्षित बनों, संगठित रहो और संघर्ष करो, अपने में विश्वास रखो और आशा कभी मत छोड़ो”—उनका यह अजर, अमर, वाक्य उनके स्वयं के जीवन की कहानी है। और यही कहानी एक बौद्ध के जीवन की भी है यदि हमें शिक्षित बनने के स्थान पर “बुद्ध की शरण” लेने की बात भी जोड़ दी जाय।

पुस्तक बुद्ध भगवान् के अनुयायी लोगों के लिए प्रेरणा का स्रोत बनेगी—ऐसी आशा है। एक जैन विद्वान् द्वारा लिखित होने से इसमें ‘धर्म परिवर्तन’ की पृष्ठभूमि में अनेकों बातें विचारोत्तेजक हैं जिन पर चर्चा-परिचर्चा चलेगी। डॉ० अम्बेडकर का यह विचार कि “धर्म मनुष्य के लिए है, मनुष्य धर्म के लिए नहीं है”—निस्संदेह तर्क संगत है। दरअसल इस विषय पर बहुत अधिक सोचा समझा और लिखा जाना चाहिए। डॉ० भास्कर ने विषय की अच्छी शुरुआत कर दी है। तदर्थ उन्हें बधाई। पुस्तक का गेटअप अच्छा है किन्तु संपादन और प्रकाशन में सुधार होना चाहिए।

—परमेश्वर सोलंकी

३. **जैन परामनोविज्ञान**—ले० मुनि डॉ० राजेन्द्र रत्नेश तथा साध्वी डॉ० प्रभाश्री प्रका० श्री अम्बा गुरु शोध संस्थान, उदयपुर। प्र. सं. १९९२ पृ. सं. १२७ मू० ५०/-

‘जैन परामनोविज्ञान’ एक अछूते विषय पर दो जैन साधकों की समवेत कृति है। परामनोविज्ञान की प्रचलित अवधारणाओं—पुनर्जन्म, प्रेत-विश्वास, स्वप्न आदि पर पर पश्चिमी विचारकों के चिंतन को ध्यान में रखकर जैन वाङ्मय में इनका प्रसार किस रूप में मिलता है, इसे पुस्तक में समझाया गया है। इसके ‘पुरोवाक्’ में लेखकों ने स्वीकार किया है, कि “यह उपक्रम वैज्ञानिक ज्ञान का सशक्त संदर्भ नहीं है किन्तु परामनोवैज्ञानिकों, शोधछात्रों के लिए एक प्रारम्भिक प्रकल्पना के रूप में इसका असंदिग्ध महत्त्व है।” (पृ० ८) ‘आशीर्वचन’ में श्री सौभाग्य मुनि ‘कुमुद’ ने पुस्तक के दोनों लेखकों—डा० राजेन्द्र मुनि ‘रत्नेश’ तथा साध्वी डा० प्रभाश्री के मनोविज्ञान

विषयक ज्ञान पर तोष व्यक्त किया है (पृ० १०) पुस्तक के पहले पलैप पर रत्नेशजी तथा दूसरे पर प्रभाजी के चित्र हैं और प्रतिभा जैन द्वारा आलंकारिक भाषा में उनका परिचय दिया गया है। इससे ज्ञात होता है कि दोनों लेखकों का डिग्री सापेक्ष अध्ययन है और ये पश्चिमी प्रयोग परक परामनोविज्ञान से जैन चिंतन के संकेतों को मिलाकर देखना चाहते हैं।

ग्रन्थ में दी गई पादटिप्पणियों और संदर्भ ग्रन्थ-सूची को देखने से पता चलता है कि जैनदर्शन के मूल ग्रन्थों—आचारांगसूत्र, स्थानांगसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र, नन्दीसूत्र आदि का उपयोग करके अपनी नदीष्ण विद्वता लेखकों ने पद-पद पर प्रमाणित की है। परन्तु एक 'मुनि' और 'साध्वी' से जिस मौलिक तत्त्वचिंतन की अपेक्षा रहती है, उसका यहां अभाव अवश्य खटकता है। जैसे पुनर्जन्म, प्रेतजीवन आदि पर लम्बी चर्चा करने के उपरान्त जब निष्कर्ष देना होता है तो लेखक किसी पश्चिमी विचारक के शब्द उद्धृत करके इतिकर्तव्य हो जाता है।

पुस्तक की भूमिका डा० बुधमल शामसुखा, निदेशक, उत्तरजीविता एवं पुनर्जन्म शोध संस्थान नई दिल्ली, ने लिखी है। उसमें परामनोविज्ञान की परिभाषा, विकास-क्रम, प्रतिपाद्य विषय आदि की चर्चा की गई है। यूरोप में चल रहे परामनोवैज्ञानिक कार्यों का भी विवरण दिया है और जैनदर्शन की पौद्गलिक लब्धियों के प्रसंग में परामनोविज्ञान की सार्थकता भी प्रतिपादित की गई है। परामनोविज्ञान को संक्षेप में समझने के लिए यह भूमिका उपयोगी है। साथ ही, यह प्रस्तुत पुस्तक को आधारभूमि भी प्रदान करती है।

प्रकृत ग्रंथ के पांच में से दो (प्रथम एवं पंचम) अध्याय साध्वी डा० प्रभाश्री तथा तीन (द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ) अध्याय मुनि डा० रत्नेश ने लिखे हैं परन्तु विचार-क्रम एवं प्रतिपादन शैली की एकरूपता कहीं भंग नहीं हुई है। दोनों लेखकों का युगपत् चिंतन और सहज अभिव्यक्ति सचमुच प्रशंसनीय हैं।

प्रथम अध्याय में परामनोविज्ञान के वैज्ञानिक आधार की चर्चा करते हुए पश्चिमी हिप्नोटिज्म, टेलीपैथी आदि के आधार पर लेखिका ने परामनोविज्ञान के विविध प्रसिद्ध आयामों—पुनर्जन्म, प्रेतिकवाद, अतीन्द्रिय शक्ति एवं दूर बोध आदि पर प्रकाश डाला है और अगले अध्यायों में इन आयामों का विवेचन जैन चिंतन के अनुसार करने की प्रतिज्ञा की है। (पृ० ४२)

लेखिका मानती है, कि परामनोविज्ञान का महत्त्वपूर्ण आयाम पुनर्जन्म सिद्धांत वैज्ञानिकों के नजरिए के अनुसार स्वीकारा नहीं गया पर उसे नकारने का कोई आधार विज्ञान के पास नहीं है। (पृ० ४२) इसलिए वह परामनोविज्ञान में पुनर्जन्म की अवधारणा पर बल देती है। दूसरे अध्याय में विस्तार से इस पर विचार हुआ है। जैन ग्रन्थों में आयु, मृत्यु, कर्म, पुनर्जन्म, जातिस्मरण आदि की व्यापक चर्चा है, उसे भी यहां साररूप में दिया गया है।

तृतीय अध्याय में प्रेतजीवन का परिचय है। बौद्ध एवं जैन चिन्तनों में प्रेतों पर अडिग विश्वास है। जैन ग्रन्थों में उनका वर्गविभाजन भी हुआ है। इन सब पर लेखक

ने रुचि लेकर विस्तार से विचार किया है। तथा प्रेतों की विविध चेष्टाओं का आकलन भी किया है।

चतुर्थ अध्याय में अतीन्द्रिय दृष्टि और दुरबोध की चर्चा है। मैग्डूगल, रिचेट, राइन आदि मनोवैज्ञानिकों ने इन्द्रियेतर ज्ञान की सत्ता मानी है। जैन ग्रन्थों में अतीन्द्रिय बोध को स्वीकार किया गया है। अनुगामिक, अननुगामिक वर्धमान, अनव-स्थिता आदि कई प्रकार की अतीन्द्रिय दृष्टियों की चर्चा तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर की गई है।

पांचवें अध्याय में पूर्वामासी स्वप्नों का विवेचन है। जुंग, फ्रायड आदि ने स्वप्नों का जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है, उसे आत्मसात् करके यहाँ जैन अवधारणा स्पष्ट की गई है। कई प्रसिद्ध स्वप्नों (वर्धमान महावीर की माता ने गर्भावस्था में जो चौदह स्वप्न देखे थे, महावीर ने कैवल्य-लाभ की पूर्वरात्रि में जो स्वप्न देखे थे, चन्द-गुप्त मौर्य ने जो सोनह स्वप्न देखे थे) का विश्लेषण इस अध्याय की विशेषता है।

पुस्तक जिस उद्देश्य से लिखी गई है, उसमें लेखकों को पर्याप्त सफलता मिली है। रूपरेखा के अनुसार विषय का प्रतिपादन उन्होंने वैज्ञानिक रीति से किया है। उनकी भाषा विषय के अनुरूप है। पादटिप्पणियाँ, संदर्भ ग्रंथ सूची आदि शोध-प्रविधि के अनुसार है। शुद्ध छपाई, आकर्षक गेट अप वास्तव में स्पृहणीय हैं। नए विषय पर हिन्दी में लिखी यह पुस्तक इस ज्ञान की नई दिशा खोलती है। एतदर्थ लेखकद्वय और प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

डा० आनन्द मंगल वाजपेयी

प्रोफेसर, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग

राजकीय महाविद्यालय, डीडवाना (राज०)

४. प्यार का गणित—लेखक—शंकरलाल मेहता “बाबूजी” प्रकाशक—
के० जैन पब्लिशर्स, पो० बाँ० नं० १०, लाडनू—मूल्य २०/- पु० १७४

कहानी मानव जीवन की चिरसहचरी रही है। कहानी की सरसता, जीवन का आरोह-अवरोह इस बात पर निर्भर करता है कि कहानीकार जिन्दगी की नब्ज को कैसे पकड़ता है और उसकी अन्तर्वस्तु को किस प्रकार रोचक कलेवर प्रदान करता है। इस दृष्टि से शंकरलाल मेहता के पास अनुभवों का पिटारा है, सूक्ष्म दृष्टि है और तदनु रूप शब्दों का जामा पहनाने की क्षमता भी है। इन सबमें उनकी जो जागरूकता है उसी का परिणाम है कि उनकी कहानियाँ यथार्थ धरातल को संस्पर्श करती हैं, पाठकों के अन्तर्मन को छूती हैं और उन्हें कर्तव्यों की दिशा में भावायित करती हैं।

“प्यार का गणित” उन्नीस रोचक, सरस एवं शिक्षाप्रद कहानियों का अनूठा संकलन है। इसकी अधिकांश कहानियाँ रेल विभाग के विविध आयामी विषयों की समस्याओं को उघाड़ती हैं और उनका समाधान देती हैं। ऐसा सभवतः लेखक का इस विभाग से वर्षों तक संबंध रहने के कारण हुआ है।

प्रथम कहानी “अपना-पराया” में बन्ध्या स्त्री की सामाजिक दुर्दशा का चित्रण बखूबी हुआ है। “शराफत का चोला” एक असहाय व्यक्ति की कहानी है जो परि-

स्थितिबश गलत रास्ते पर चलने लगता है और जैसे ही परिस्थिति के फन्दे से वह निकलता है तो अपने आप को सबसे खुशनुसीब समझता है। शत्रुताबश व्यक्ति अपने दुश्मन से प्रतिकार के लिए किस निम्न स्तर तक उतर आता है इसी का रोमांचक चित्रण 'दुर्बलताओं की दोजख' में हुआ है। भाई-बहन, पुत्र-पिता के रिश्ते में भी दरार आ जाती है किन्तु प्यार के रिश्ते की नींव इतनी गहरी होती है कि उसमें दरार या विघटन की संभावना नहीं रहती। इसी सत्य को उकेरा है लेखक ने अपने 'प्यार के गणित' कहानी में। इस कहानी की विशिष्टता इस कृति का शीर्षक होने से परिलक्षित होती है। इस कथा में नायक की पीड़ा को सहयोगियों ने अपनी पीड़ा समझकर जिस आत्मियता और सक्रियता से उपचार किया उससे लेखक त्रासदी के अन्त के साथ इस दर्शन को उद्घाटित करने में शत-प्रतिशत सफल दिखलाई पड़ता है कि सहयोग की बुनियाद पर कोई भी समस्या समाधान रहित नहीं रहती। दर्द, निराश्रय आश्रम, चोट, बीता जीवन, बिसरे दायित्व आदि कहानियां भी किसी न किसी सत्य की अभिव्यक्ति के कारण पाठकों के अन्तर्मन को झकझोरती दीख पड़ती हैं।

इन कहानियों में संवेदन है, समस्या है और समाधान भी है। ये सूक्ष्मदर्शी यंत्र की भांति मानव के विविध पहलुओं को विविध नजरों से देखती हैं। प्रेमचन्द की सहजता आज इतिहास के पन्ने में सिमट कर रह गई थी, उसे पुनर्जीवित करने का प्रयास अब होने लगा दीखता है। कौतूहाल-निर्वाह से पाठक को अन्त तक बांधे रखने में अधिकांश कहानियां सक्षम हैं। मुख्य पृष्ठ आकर्षक है। कृति पठनीय और संग्रहणीय है।

आनन्द प्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'

व्याख्याता—ब्राह्मी विद्यापीठ

लाडनू—३३१३०६

५. चिन्ता: प्राची/चिन्तन: सूरज और मनस्-क्रान्ति—लेखक—मुनि विमल सागर। प्रकाशक—जीवन-निर्माण केन्द्र, ए ५ सम्भवनाथ एपार्टमेंट, अहमदाबाद-१३। प्रथम संस्करण-१९९२। मूल्य—(५) + (५) रुपये। पृष्ठ ३२ + ३२।

मुनि विमलसागर, आचार्यश्री पद्मसागर सूरिजी महाराज के युवा शिष्य हैं। पिछले दिनों में आपने हिन्दी और गुजराती में कुछ पुस्तकें लिखी हैं जो जीवन निर्माण केन्द्र अहमदाबाद से प्रकाशित हुई हैं। 'सपना यह संसार'—नामक उनकी नई कृति के प्रेस में होने की जानकारी भी मिली है।

मुनि विमल सागर गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में लेखनी चला रहे हैं। समीक्ष्यकृति चिन्ता: प्राची/चिन्तन: सूरज उनकी चौबीस क्षणिकाओं का संग्रह है। कवि का विश्वास है कि ये क्षणिकाएं भयावह संत्राण और तनाव के बीच स्वस्थ चिन्तन के नये वातायन उन्मुक्त करती हैं। जिसका आज उसका कल, जीवन की सार्थकता, सच है आज ही, सफलता का रहस्य, अनुभव की सीख, प्रारब्ध और पुरुषार्थ तथा सुख का राज—आदि क्षणिकाएं पाठक के चिन्तन को रोकती हैं, आकर्षित करती हैं और नई दिशा देती हैं।

खण्ड १८, अंक ३ (अक्टू-दिस०, ९२)

२६३

अर्थात् चिन्ता जो प्राची दिशा है उस ओर अभिमुख होने पर नये चिन्तन का सूरज उगता है। यह कवि की सफलता है।

दूसरी कृति मनस् क्रान्ति में पर्युषण पर्व पर लिखी तीन गद्य रचनाएं हैं। 'पर्युषण पर्व की महिमा' 'कल्पसूत्र की परम्परा' और 'जैन तप' पर लिखी ये तीनों रचनाएं समाचार पत्रों में पूर्व प्रकाशित हैं। पाठकों ने उन्हें पसंद किया इसलिए पुनः पुस्तकाकार ले पाई हैं। यही उनकी सफलता है।

वास्तव में आज जीवन बहुत व्यस्त और भौतिक जैसा हो गया है। उसे आध्यात्मिक बाना पुनः प्रदान करने के लिए बड़े-बड़े ग्रन्थ, महाकाव्य और महाप्रबन्ध, कारगर नहीं हो सकते। उन्हें संभवतः यह जीवन मात्र देखकर रख देने की आदत बना चुका है। इसलिए थोड़ा-सा छोटा-सा लगने वाला नाविक का तीर जैसा बिहारी-दास का दोहा, चाहिए जो सुन्दर लगे और अगणित उद्योत पैदा करे तो व्यस्त जीवन का मानसिक तनाव विगलित हो जाएगा और जीवन में आध्यात्मिकता का पुनः प्रवेश हो सकेगा।

मुनिश्री की ये लघु पुस्तकाएं इस दृष्टि से देखी जाए तो कुछ आशा बंधती है। मुद्रण, गेटअप और साफ सुथरी, कम मूल्य की प्रस्तुति भी सोर्ट स्वीट के ग्राहक मन को लुभाती हैं।

प्राप्तस्वीकृति :

१. जैन योग (भाग-एक और भाग दो) — कलादर्शन संस्थान, औद्योगिक क्षेत्र बैंक के पास, बीकानेर। मूल्य ३०/- रुपये (दोनों भाग)। संपादक—डॉ० प्रकाश-वती शर्मा एवं डॉ० मुरारी शर्मा।
२. जैन काल गणना। लेखक—चन्द्रकांतबाली। प्रकाशक—इतिहास भारती, पीतमपुरा, दिल्ली—३४/- मूल्य १५० रुपये।
३. श्री रामदेव प्रकाश (बड़ा)। लेखक—श्री रामसिंह वरणा। प्रकाशक—श्री हमीर सिंह एवं शिवनाथसिंह राजपुरोहित, वरणा (जोधपुर)।

—५० सो०

आचार्य तुलसी की नई कृति : तेरापन्थ प्रबोध

गीत-गंगा का अवतरण हृदय के शून्य-धरातल से होता है। वह शून्यता मशानी-शून्यता नहीं बल्कि समाधि की विषय रहित अवस्था का नाम है जहां स्वकीयत्व-परकीयत्व तद्-अतद् सब संमिश्रित हो ज्योतिर्मय बन जाते हैं। रीति-प्रीति, नीति-गीति सब साहचर्यत्व को प्राप्त हो जाते हैं, जहां जीवन का पूर्ण प्रस्फुटन होता है, मंगल का पूर्ण विकास होता है तथा भास्वर-चिन्मय-दीप प्रज्वलित हो जाता है।

वह शून्यता ध्यान, धारणा आदि के द्वारा कथमपि उत्पन्न नहीं हो सकती। उसका प्रारंभ भक्ति के मनोरम-मानसरोवर से होता है। भक्ति-भाव की अविच्छिन्न-अजस्रा एवं श्रद्धा की शान्त-स्रोतस्विनी परस्पर जहां मिल जाती हैं उसी संगम पर गीत की भर-भर निर्भरिणी तरंगायित होने लगती है, जो कमनीय-कला की परम-विश्रान्ति है। भगवान्, प्रभु गुरु प्रेमी आदि किसी समर्थ-उपजीव्य का समाश्रयण कर वह धारा बह चलती है, जिससे भावना, कल्पना, वेदना, श्रद्धा, आस्था आदि का अद्भुत समन्वय होता है। कवि जब कभी तन्मयत्व की स्थिति में होता है तब उसके अवचेतन मन में स्थित पूर्व संस्कार भक्ति की भाव-धारा के रूप में फूट पड़ते हैं। वह भाव-धारा इतनी सशक्त होती है कि कवि तो उसमें स्वयं बह ही जाता है साथ ही वह पूरे संसार को भी बहा ले जाती है। निश्चय ही 'तेरापन्थ-प्रबोध' के गीतकार इस अवस्था को प्राप्त हुए होंगे। इसमें स्वयं वे या सहृदय चेतन प्राणी ही प्रमाण हैं।

गीत काव्य-कला का परम निकष तो है ही। सुमधुर-गला की रमणीय परिणति भी है। कला और गला जहां मिश्रित हो जाती हैं वहीं गीत काव्य की स्फुरणा होती है। स्वयं इस गीत का संगायक कला और गला का सम्राट् है।

विरह की उर्वरा भूमि में गीत का बीज उगता है। वह विरह प्रभु, गुरु, आचार्य मार्गदर्शक किसी के प्रति हो सकता है। गीतगोविन्द, भागवती मीराबाई की गीतिकाएँ और संसार प्रसिद्ध गीतिकाव्य मेघदूत इसके प्रमाण हैं।

सौन्दर्य के रम्य-उद्यान में गीत-कमल खिलता है। जब कवि या गीतकार किसी समर्थ के सौन्दर्य में रम जाता है, जब उसकी ऐन्द्रिक-वृत्तियां धम जाती हैं, अहं विश्राम पाता है तब गीत की स्वर लहरियां हृदय-वीणा पर भङ्कृत होने लगती हैं।

श्रद्धास्पद की स्मृति गीतोत्पत्ति में सहायक होती है। अवश्य ही तेरापन्थ-प्रबोध की कमनीयकला और ऋत्समरी-प्रज्ञा सम्पन्न कवि आचार्य श्री तुलसी के हृदय

में उस अधिदेवता की स्मृति जगी होगी। जो औत्पतिकी प्रतिभा का मूर्तिमन्त-अवतरण था—

‘होनहार वीरवान चीकणा पात’ बात विख्यात है ॥
ऊगंतो ही तपै तेज रवि उदाहरण नवजात है,
हो सन्तां ! प्रतिभा उत्पत्तिया पाई आकार हो ॥३॥

श्रद्धा का सुगठित-धरातल गीति के लिए अधिक उपयुक्त होता है। अपने उपास्य के चरणों में सात्विकी-श्रद्धा के उपचित होते ही उसी के नाम-धाम सम्बन्धी शब्द अभिव्यक्त होने लगते हैं। हृदयस्थ श्रद्धा को ही गीतकार अपने प्रभु-चरणों में समर्पित करने लगता है :

श्रद्धा स्वीकारो तेरापन्थ रा अधि देवता ।

श्रद्धा आस्था के बिना पूर्ण कहां होती है ? पूज्यास्पद के प्रति पूर्ण आस्था के जगते ही गीत की स्वच्छ-तोया तरंगायित होने लगती है :—

थारै पर म्हारी आस्था अपरम्पार हो ।

उपास्य या प्रेमी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन गीत-काव्य का मूल तत्त्व होता है। मेघदूत का यक्ष अपनी यक्षिणी को विधाता की पहली सृष्टि कहता है—‘सृष्टियद्यैव धातुः’। भक्तिमती मीरा के ‘वसो मेरे नैनन में नन्दलाल’ को कौन नहीं जानता ? तेरापन्थ-प्रबोध के उपास्य का स्वरूप.....

जनजीवन आधार हो, हृद्-तंत्री रा तार हो ।

मरुधर रा मन्दार हो, तेरापन्थ रा अधिदेवता ॥

सहजता और नैसर्गिकता गीत के प्राण तत्त्व होते हैं। जब गीतकार की मान-सिकता सहज हो जाती है तब रागिनियां निसर्गतया उच्छलित होने लगती हैं। विवेच्य-कवि अपने वर्णनीय के नान्हीवय में शादी का सुन्दर वर्णन करता है :—

नान्ही वय में ही भिक्षण-शादी री बाजी शहनाई,
बगड़ी में ससुराल सहचरी सौभागण सुगणी बाई,
हो सन्तां ! जाइ एक सुता, सहज सिमट्यो परिवार हो ॥५॥

अन्तर्मन की पुकार की शाब्दिक अभिव्यक्ति ही गीत है। गीतकार कभी भी रचना-काल में ताल-लय-छन्द आदि पर ध्यान नहीं देता, क्योंकि ये सब बुद्धि के विषय हैं, परन्तु गीत-स्फुरणा काल में तो बुद्धि होती ही नहीं, केवल अन्तर्मन की साधु-ध्वनि सुनाई पड़ती है। वहीं अन्तर्ध्वनि जब बाह्य-शब्दाश्रित होती है तो लोक की भाषा में गीत-शब्द-वाच्य होती है :—

कुण जाण के हुयो अचानक राते तेज बुखार चढ्यो,
सीयो-दाहो लग्यो भयानक बेचनी रो वार बढ्यो,
हो सन्तां ! खुलग्यो अन्तः स्फुरणा रो अभिनव द्वार हो ॥६॥

गीत सशक्त भाषा में अभिव्यक्त होते हैं। न केवल गीतकार अपितु श्रोता-पाठकादि पर इतना प्रभाव डालते हैं कि वह उसी में तन्मय हो जाता है :—

हो सन्ता ! होग्यो भीखण रो बेड़ो अब तो पार हो ॥१०॥
हो सन्तां खुलग्यो अन्तः स्फुरणा रो अभिनव द्वार हो ॥१६॥
हो सन्तां ! निर्मल निर्मायी निश्चल निरहंकार हो ॥१०७॥
भगिनी-माई दोनूं पाई कला सत्य संधान की,
आत्मविजेता नव-नचिकेता वीतराग री वानगी,
हो सन्तां ! जुग रा अजातशत्रु मधवा जगतार हो ॥१०८॥

विवेच्य गीत में सुन्दर-श्रुतिमधुर-शब्दों का संचयन समाहित है। शुद्ध-हृदय धरातल से निःसृत शब्द-समुदाय तो उत्कृष्ट होंगे ही :—

ससुराल सहचरी सौभागण सुगनी बाई ॥
जागी जागरणा जाण्यो जग निस्सार हो ॥
दीक्षा में शिक्षा में, समय-समीक्षा में.... ॥

गीतकार इतना तन्मय हो जाता है कि वह अपने और उपास्य या प्रेमी के व्यक्तित्व में कोई अन्तर नहीं कर पाता। गीतकार का स्वयं का व्यक्तित्व ही कभी-कभी गीत के माध्यम से ध्वनित होने लगता है—लक्ष्य उपजीव्य के व्यक्तित्व का ही निरूपण होता है।

तेरापन्थ-प्रबोध का अधोविन्यस्त पद्य—जो वस्तुतः गुरु भीखण के लिए समर्पित है, क्या गीतकार तुलसी के व्यक्तित्व पर प्रकाश नहीं डालता ?

चर्चावादी कुशल-प्रशासक, मीमांसक संगायक हा,
पुरुष-परीक्षक और समीक्षक नव्य नीति-निर्णायक हा,
हो सन्तां ! 'प्रगट्यो कोइ एक नया उद्योतकार' हो ॥७८॥

गीत में रस का साम्राज्य होता है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्', 'रसो वै सः', 'रस एव आनन्दः', आदि साधूक्तियां गीत में पूर्णतया संगठित होती हैं। विवेच्य गीत में श्रद्धा-भक्ति रस की शान्त-सलिला जो 'श्रद्धा स्वीकारो तेरापन्थ रा अधिदेवता' रूप पर्वत शृंखला से निःसृत होकर सम्पूर्ण तेरापन्थ-प्रबोध की रम्य अरण्याणी में उपचित होती हुई। 'अठहत्तर-वय-आज तुलसी-गुरु करुणा-तरुण' तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित है। जो सौगन्धी आस्था के कुसुम 'म्हारी आस्था अपरम्पार हो' से निःसृत हुई थी उसकी सौरभदार-सुषमा अन्त तक व्याप्त है। इसमें वीर, भयानक आदि रसों का आस्वादन भी होता है। मुख्यतः प्रतिपाद्य स्वामी भीखण त्याग-वीर या तप-वीर के श्रेष्ठ निदर्शन हैं। वे घोर परिषर्णों के बीच वैसे अडोल रहते हैं जैसे संग्राम में वीर-योद्धा। बाह्य शत्रुओं को जीतना तो सरल है, लेकिन कोई आभ्यन्तर शत्रुओं—काम क्रोधादि को जीने तभी उसकी वीरता अधुण रह सकती है। भीखण स्वामी बाह्य आभ्यन्तर दोनों शत्रुओं के जेता थे। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—पद्य संख्या २५, २६, ३६, ४०, ४२, ४३, ४९ आदि। पांचवें गीत में शृंगार रस की झलक मिलती है।

कम शब्दों में ही वर्णनीय का वर्णन कर देना गीतकार का वैशिष्ट्य होता है। विवेच्य गीत के एक-एक पद्यों में ही जयाचार्य, मधवागणी एवं डालिम के सम्पूर्ण

खण्ड १८, अंक ३, (अक्टू-दिस०, ९२)

२६७

व्यक्तित्व को उजागर किया गया है ।

जीतमल जी का वर्णन देखिए :—

जयाचार्य

स्वामी जी स्वर्गस्थ, जीत रो जनम, युगल मरुधर-धोरी ।
पंथ प्रगति पर रही एक सी सांवरिया री स्थिर ध्योरी ॥
× × ×
जयाचार्य अनिवार्य रूप शासन रो कायाकल्प कर्यो ।
गद्यो नयो इतिहास खास सार्थक स्वीकृत संकल्प कर्यो ॥
हो सन्तां ! वज्रासन मुदा में जुड़तो दरबार हो ।
हो सन्तां ! भंक्षव वाङ्मय रा भास्वर भाष्यकार हो ॥१०५॥

मघवागणी

मघजी पुण्यवान है, म्हारें पंडित है 'जय' शब्द कहा,
अठारें ग्यारें वरसां लग युवाचार्य आचार्य रह्या,
हो सन्तां ! निर्मल निर्मायो निश्चल निरहंकार हो ॥१०७॥

विवेच्य काव्य में गीत की ललित—लावण्यमयी-लोक-लहरियों के माध्यम से तत्त्व दर्शन या जैन दर्शन के कतिपय विषयों का निरूपण किया गया है :—

१. अनुशासन ही संघ का आधार होता है—५५
२. साध्य सिद्धि में साधन-शुद्धि अनिवार्य है—६३
३. निर्गुण आत्मा की उपासना ही जिनमत है—६६
४. जिन सिद्धान्त में शिथिलता ग्राह्य नहीं है—६८
५. नवपदार्थादि का निर्देश—७०
६. प्रतिदिन की साधु-चर्या—७३
७. संलेखना व्रत—७७

बिम्बात्मकता श्रेष्ठ काव्य का महत्त्वपूर्ण गुण है । कवि अपने शब्दों के द्वारा श्रोता के सामने वर्णनीय का स्पष्ट बिम्ब/चित्र अंकित कर दे तभी वह सफल रचनाकार की श्रेणी में परिगणित होता है । गीत-काव्यों में तो बिम्बन-शिल्प प्राण के रूप में निहित रहता है । तेरापंथ-प्रबोध के प्रत्येक पद्य में बिम्बात्मकता विद्यमान है । काव्यारम्भ में रमणीया-श्रद्धा बिम्बित हो रही है :—

श्रद्धा स्वीकारो तेरापंथ रा अधि देवता ।

बालक भीखण का सुन्दर बिम्ब अबलोकनीय है :—

शुभ मुहुरत में नामकरण-संस्कार सभायो बालक रो ।

× × ×

हो सन्तां ! बचपन में ही बालूडो तेज-तरार हो ।
नान्ही-वय और भार्या सौभागण सुगणी-बाई को ॥

रूप-लावण्य का निर्देश—

नान्ही-वय में ही भिखण-शादी री बाजी शहनाई ।

बगड़ी में ससुराल सहचरी सौभागण सुगणी बाई ॥

पत्नी-वियोग

नियति योग पत्नी-वियोग ८।१

ध्वनिबिम्ब

‘शादी की शहनाई की’ श्रवण सुखदता प्रसिद्ध है।

भीखण के नान्ही-चय में शादी की शहनाई बज गई ॥५॥

जब बालक उत्पन्न होता है तो घर-घर में गीत की ध्वनि गूँजित होने लगती है—यह लोक-रीति भी है। भीखण के जन्म के समय घर-घर में मंगल-गीत का गूँजार होने लगा।

हो सन्तां ! मंगल गीतां री घर-घर में गुंजार हो ॥२॥

चाक्षुष बिम्ब

तेरापंथ-प्रबोध के अनेक स्थलों पर रमणीय चाक्षुष बिम्बों की उपलब्धि होती है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

परिवार

हो सन्तां ! जाई इक सुता, सहज सिमट्यो परिवार हो ॥५॥

आचार्य भीखण की वीरता का दर्शन बाल्यकाल में ही होता है :—

दीपां बाई ! धारो बेटो देख शेर ज्यूं गुंजैला ।

धूँजैला थर-थर कायर ओ कर्म कटक स्यूं जूँभैला ॥१०॥

मित्र-वर रामचरणजी का सुन्दर बिम्ब अवलोकनीय है :—

रामचरण जी भीखणजी रं मंत्री रो सम्बन्ध हो ॥

वन्दनमुद्रा में आचार्य-भिक्षु का बिम्ब किसे संवेग उत्पन्न नहीं करता :—

हे प्रभो ! यह तेरापंथ पथिक म्हे संशय दूर कियो ।

हो सन्तां ! वन्दन-मुद्रा में बोलया बारम्बार हो ॥३५॥

एक स्थान पर रूपकात्मक-प्रतिपादन के संदर्भ में हरी-भरी क्यारी का दर्शन होता है :—

पर्वतमाला रो प्राकार ॥७४॥

उपरोत्तर विवेचन के अतिरिक्त भी अनेक सुन्दर एवं सहज-संवेद्य बिम्बों का आस्वादन विवेच्य काव्य में होता है। यथा तप—७, नियतिवाद—८, भावुकता—१५, बीमार-भीखण—१६, हर्ष—१८, क्रोध—१९, नदी—२५, चत्तारी मंगल—९७, ज्योतिर्मय-चिन्मय दीप—५३, मर्यादापत्र—६०, आदर्श—६१, उपासना—६६, अनशन—७७, चौबिहार उपवास—८०, मंत्र—९८, अवतारवाद—१०४, जीतमल-आचार्य—१०२, जयाचार्य—१०५, महासती सरदारांजी—१०६, मधवागणी—१०७, अणुव्रत—११८, प्रेक्षाध्यान—११९, जैन विश्वभारी शिक्षण संस्था—१२२ आदि।

सूक्ति-सौन्दर्य

सूक्तियां किसी भी भाषा या कथन को सशक्त बनाती हैं। इससे भाषा चारुता

एवं श्रवण-सुखदत्ता की समृद्धि होती है। तेरापंथ-प्रबोध में अनेक सुन्दर सूक्तियों का समायोजन होने से इसका रमणीय सौन्दर्य और बढ़ गया है। कुछ सूक्ति-सौरभ का निदर्शन प्रस्तुत है :—

सिद्धांतां सच्चाई रो सब स्यूं बड़ो महत्व है ॥२२॥
 कर कंगण आख्यां स्यूं दीखें फिर के करसी आरसी ? ॥२२॥
 अपनी आत्मा ही अपनी पहरेदार हो ॥२७॥
 साध्यसिद्धि में साधन री शुद्धी अनिवार हो ॥६३॥
 बलजबरी चलै धार्मिक कारोबार हो ॥६४॥
 'ज्योतिर्मय चिन्मय दीप' हरै अन्धार हो ॥५५॥
 निक्षेपो स्थापना निर्गुण आकार हो ॥६६॥
 रहिज्यो आराधता इंगित-आकार हो ॥८२॥
 ममता चेलां री ले डूबै मन्धार हो ॥८३॥
 गूंगो भी बोलै, पंगू चढ़ै पहाड़ हो ॥९८॥

अलंकार

'अलंकीयते अनेन इति अलंकारः' जिससे काव्य-शरीर का सौन्दर्य सम्बद्धित हो उसे अलंकार कहने हैं। गीतकाव्य में यद्यपि गेयता की प्रधानता होती है फिर भी अलंकारों का विनियोजन भी कम नहीं होता है। विवेच्य काव्य में अनेक रूप्य एवं रम्य अलंकारों का प्रयोग हुआ है जिसका संक्षिप्त निदर्शन इस प्रकार है :—

अनुप्रास

समुराल सहचरी सौभागण सुगणीबाई ॥५॥
 निर्मल निर्मायी निश्चल निरहकार हो ॥१०७॥

उपमा

उपमान और उपमेय का साधर्म्य—मंगलाचरण में अधिदेवता की उपमा 'मरुधर रा मन्दार' से दी गई है।

एक स्थल पर गुण-ज्ञान रूप प्रकाश सम्पन्न भैक्षवगण की उपमा सूर्य से दी गई है :—

चमक्या सूरज-सा भैक्षवगण गिगनार हो ॥१०२॥

एक सुन्दर उपमा जिसमें मुनि श्री.....के लिए सिंह और ज्योतिर्मय-अंगार को उपमान बनाया गया है :—

सिंहवृत्तिस्यूं.....।

बन ज्योतिर्मय अंगार हो ॥१०३॥

रूपक

विवेच्य काव्य में सबसे अधिक इसी अलंकार का प्रयोग किया गया है। रूपक में उपमान और उपमेय की एकरूपता हो जाती है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

एक स्थल पर यह बताया गया है कि औत्पतिकी प्रतिभा ही शिक्षु-भीखण के रूप में अवतरित हुई—

प्रतिभा उत्पत्ति या पाई आकार हो ॥३॥

अमूर्त-मूर्त रूपक का सौन्दर्य आस्वाद्य है :—

हो सन्तां ! उमड्यो बुवार जिज्ञासा रो ज्वार हो ॥२॥

गीत ५५ में अनुशासन को 'ज्योतिर्मय-चिन्मय दीप' कहा गया है। अन्य उदाहरण—

भिक्खू-दृष्टान्त तो हियडूँ रो हार हो ॥७०॥

प्रगद्यो कोइ एक नयो उद्योतकार हो ॥७२॥

श्रद्धा-व्यारी ॥७४॥

एक सुन्दर रूपक—

धम्मगिरी री पुण्य तलेटी तपस्वनी सरिता-चर में,
करै चरम संस्कार स्वांम रो, ओजस्वी ऊंचै स्वर में,
हो सन्तां ! धरणी-अम्बर में जय-जय की धुंकार हो ॥९२॥

यहां धर्म को पर्वत और तपस्या को सरिता कहा गया है।

एक स्थल पर कालूगणी को करुणा की इकलौती मूरत के रूप में चित्रित किया गया है :—

करुणा री इकलौती मूरत, कालू काया जलधौती ॥११३॥

गीत संख्या १२२ में विश्व भारती को कामधेनु कहा गया है।

उदात्त

'उदात्तः वस्तुनः, सम्पत्' अर्थात् जहां वस्तु या व्यक्ति का समृद्धि-योग का वर्णन हो उसे उदात्त अलंकार कहते हैं। तेरा० प्र० में अनेक स्थलों पर इसका प्रयोग मिलता है :—

'बालूडो-भीक्खण' की उत्कृष्टता-गीत संख्या ॥४॥

अन्य उदाहरण—

भिक्खु दृष्टान्त तो हियडूँ रो हार हो ॥७०॥

अपणं जुग रा सर्वोत्तम सिरजणहार हो ॥७॥

इसके अतिरिक्त गीत संख्या १०२, १०३, १०४, ११३, ११४ आदि में उदात्त अलंकार का सुन्दर निरूपण हुआ है।

परिकर

सामिप्राय विशेषणों का प्रयोग परिकर अलंकार है। विवेच्य गीत में अनेक स्थलों पर इसका उदाहरण प्राप्त है।

आचार्य भिक्षु के लिए अनेक सामिप्राय विशेषणों का प्रयोग द्रष्टव्य है—

चर्चावादी कुशल-प्रशासक.....॥७२॥

गीत संख्या १०७ में मघवागणी के लिए अनेक सुन्दर विशेषणों का प्रयोग हुआ है :—

निर्मल निर्मयी निश्छल निरहंकार हो ॥

खण्ड १८, अंक ३, (अक्टू०-दिस०, ९२)

२७१

अनुप्रास और परिकर का समन्वित सौन्दर्य इस गीत को श्रेष्ठ काव्य के पद पर प्रतिष्ठित करता है ।

अर्थान्तरन्यास

सामान्य का विशेष से एवं विशेष का सामान्य से समर्थन होता है वहाँ अर्थान्तरन्यास होता है । सूक्ति युक्त पद्यों में यह पाया जाता है । इसके लिए उदाहरण द्रष्टव्य हैं गीत संख्या २१, २७, ६३, ६४, ८० आदि ।

काव्यलिङ्ग

जहाँ कार-कार्य भाव हो । उदाहरण गीत संख्या ६, १२, ४७ आदि ।

इस प्रकार तेरापंथ-प्रबोध श्रेष्ठ कलाकार द्वारा प्रणीत रमणीय गति काव्य है और इसमें काव्य के विभिन्न गुणों का लावण्य दर्शनीय है ।

—डॉ० हरिशंकर पाण्डेय

कर्म और श्रद्धा

“पोषण जठे असंजम रो,
वो दान दान है, धर्म नहीं ।
मारै एकण नै पुचकारै,
रोष राग है धर्म नहीं ॥

× ×

अहंत्-आज्ञा धर्म,
अनाज्ञा अधरम खरी कसौटी है ।
धनस्युं धर्म खरीदीजै,
आ श्रद्धा जड़ स्युं खोटी है ॥

× ×

धूप दीप फळ फूल
प्रतिमा पूजा धर्म नहीं ।
आलम्बण बणणै स्युं,
पूजनीय हो, जिनमत मर्म नहीं ॥”

—आचार्य तुलसी

Tulsi Prajna

QUARTERLY RESEARCH JOURNAL

Vol. XVIII

Oct.-December, 1992

No. 3

(ENGLISH SECTION)

Managing Editor

Dr. Parmeshwar Solanki



**Jain Vishva Bharati Institute,
Deemed University, Ladnun-341306**

A Summary

INDOLOGICAL STUDIES IN GERMANY

(Past and Present)

When in modern times Europeans reached India in great numbers to trade, interest in India and her culture was awakened. Switzerland, Austria and Germany never had any colonial aspirations in India, yet scholars from these countries contributed a great deal to Indology.

The German missionary H. Roth (1620-1668) seems to have been the first European to write a Sanskrit grammar which, however, was not printed. Two other Catholic missionaries deserve mention in this connection. E. Hanxleden came to Kerala in 1699 and stayed there until his death in 1732. He was instructed in Sanskrit and Malayālam by two *Nambūdris*. He wrote a Sanskrit grammar, a Malayālam dictionary, and also composed hymns and poems in Malayālam. J. P. Wesdin, who took on the name of Fr. Paulinus a Sancto Bartholomaeo (1748-1806), was an Austrian who stayed on the Malabar coast for thirteen years. He wrote two Sanskrit grammars which were printed in Rome in 1804.

Missionaries were also the first to take an interest in Dravidian languages. B. Ziegenbalg (1682-1719) wrote a Tamil grammar. J. P. Fabricius (1711-1791) compiled a Tamil dictionary. Kannaḍa and Malayālam too owe a standard dictionary to two missionaries. F. Kittel (1832-1903) and H. Gundert (1814-1893) published dictionaries in these languages, which are still in use today. Another missionary, E. Trumpp (1828-1885), worked on Sindhi and Pushto.

These authors, however, did not make a great impact in Europe. It was only in the 19th century, after Sir William Jones' translation of '*Śakuntalā*' appeared in a German rendering, that thinkers of the Romantic Movement were impressed by Indian thought and literature. Two of the most influential disseminators of the ideas of that movement were August Wilhelm von Schlegel and his brother Friedrich. Both learned Sanskrit, A. W. von Schlegel when he was 51 years of age. When the first chair of Indology was established at *Bonn University* in 1818, A. W. von Schlegel became the first professor of Sanskrit. He set up a printing press and printed the *Bhagavadgītā* in Devanāgarī letters together with a Latin translation.

The Prussian minister W. von Humboldt, a scholar, linguist and philosopher, studied the *Bhagavadgītā* and was deeply moved by it. Due to his initiative, a second chair of Indology was established in *Berlin* in 1820. Bopp was the first professor of Indology in the Prussian capital. When Bopp was 25 years of age, he wrote a thesis showing the relationship between Sanskrit and other Indo-European languages. He is regarded as the founder of comparative linguistics. Eventually, other universities too established chairs of Indology. Consequently research in all fields of Indological studies—language, literature, religion, sciences, philosophy and art—was undertaken in the 19th century. The most important trends in modern German Indology are briefly mentioned in the following summary of the different subjects.

Dictionaries, Grammars and Works of Reference

In order to understand and translate texts, a good dictionary was required. For more than a century, German-speaking scholars have used the two so-called Petersburg-Dictionaries. Two German scholars O. van Boehtlingk and R. van Roth worked on the big Petersburg Dictionary which appeared in 1852-1875. It has recently been translated into English and published in India. It can be superseded only by the "Encyclopaedic Dictionary of Sanskrit on Historical Principles", currently being compiled in Pune. The first part of the third volume, treating *adh* to *adhi* has appeared in 1982. O. van Boehtlingk also compiled a shorter Sanskrit-German Dictionary, 1879-89. Beginners, who do not require an expensive dictionary in several volumes, use C. Capeller's Sanskrit-German Dictionary, Strassburg 1887, reprinted 1966. A new dictionary was prepared by K. Mylius (Leipzig) 1975. At Geottingen University a dictionary of Buddhist Sanskrit, *Sanskrit Woerterbuch der Buddhistischen Texte aus den Turfanfunden*, is in the process of being edited by G. von Simson, the fifth issue appeared in 1987.

Primers for Sanskrit were written by A. Stenzler, G. Buehler, F. Kielhorn, and W. Gerger. F. Stenzler's grammar, the 17th edition of which appeared in 1980, remains the most widely used one. The most comprehensive description of Sanskrit is J. Wackernagel's *Altindische Grammatik*, 1896, to which A. Debrunner and R. Hauschild also contributed. A. Thumb's *Handbuch des Sanskrit* was revised by R. Hauschild, 1950-59. A new text book for Sanskrit was published by W. Morgenroth, (Berlin) in 1973. M. Mayrhofer (Wien) compiled an Etymological Dictionary in 3 vols., Heidelberg, 1956-76. P. Thieme (Tuebingen) and K. Hoffmann (Edangen) published a

number of papers on problems of grammar and etymology. A. Wezler (Hamburg) also studied *Vyākaraṇa*.

T. Aufrecht compiled an alphabetical register of Sanskrit works and authors which is still an indispensable work of reference for all students of Sanskrit *Catalogus Catalogorum*, Leipzig 1891-1903. E. Windisch's *Geschichte der Sanskrit-Philologie und indischen Altertumskunde*, Strassburg 1917-1920, is a comprehensive history of Indological studies in the 19th century.

Vedic Studies

The first German to study the *Rgveda* was F. Rosen whose early death in 1837 prevented him from publishing a complete *Rgveda* edition with a Latin translation. It was Max Mueller who published a critical edition of the text in six volumes. Translations were also made by G. Grassmann, A. Ludwig, and K. F. Geldner. H. Oldenberg, R. Pischel and K. F. Geldner wrote critically on text related problems. The edition and translation of *Sāma-veda* by T. Benfey appeared almost simultaneously with that of the *Rgveda*. A Weber worked on the *Yajurveda*. An *Atharvaveda Samhitā* edition was the joint effort of R. van Roth and the English scholar W. D. Whitney. L. von Schroeder edited the *Maitrāyaṇi Samhitā*. Among scholars working on Vedic subjects today are W. Rau (Marburg), P. Thieme (Tuebingen), K. Mylius (Leipzig), M. Witzel (Combridge, Mass), and K. Janert (Koeln).

When Vedic religion was first studied, Vedic gods were considered to be personified phenomena of nature. They were seen in the context of comparative mythology. M. Mueller and A. Kuhn were the chief exponents of this thought. A. Hillebrandt and H. Oldenberg studied Vedic religion on the basis of ritual literature. J. Hertel was of the opinion that the *Veda* should only be studied together with the *Avestā*. His theory that the *Veda* originated outside India is no longer acceptable. R. Pischel and K. Geldner in *Vedische Studien*, relied more on indigenous commentators than Indo-Aryan parallels. In more recent times gods whose ethical and sociological functions are clearly definable have been subjects of monographs, e.g., H. Lueders' *Varuṇa*, Goettingen 1951-59. P. Thieme (Tuebingen) wrote *Mitra und Aryamān*, New Haven, Connecticut, 1957, and H. P. Schmidt (Los Angeles) *Byhaspati und Indira*, Wiesbaden, 1968. The problem of the age of the *Veda* has given rise to a lot of controversy. No consensus has been arrived at so far. The relative chronology of the *Veda* has been discussed by W. Wuest (Muenchen) in *Stilgeschichte und Chronologie des Veda* (History of style and chronology of

the Veda) Leipzig, 1926. P. Thieme (Tuebingen) studied etymology of the *Veda* in *Untersuchungen zur Wortkunde und Auslegung des Rgveda* (Studies in the Etymology and Interpretation of the *Rgveda*), Halle, 1949. W. Neisser also worked in this field.

The 'Sacred Books of the East' edited by Mueller, contain the chief religious writings of Asia in English translation. The whole series was reprinted in Delhi recently. J. Eggeling translated the *Satapatha Brāhmaṇa*, and many of the other contributors were Germans too. H. Oldenberg discussed the style of the *Brāhmaṇas* and older *Upaniṣads* in *Zur Geschichte der altindischen Prosa* (On the history of ancient Indian prose), Berlin, 1917. The *Śrauta Grhya-sūtras* were edited during the last 25 years of the 19th century. A. Hillebrandt discussed Vedic rites and rituals in *Ritual literatur, Vedische Opfer und Zauber*, Strassburg, 1897. H. Oldenberg studied the world view of the *Brāhmaṇa* texts in *Vorwissenschaftliche Wissenschaft, Die Welranschaung der Brāhmaṇa Texte* (Scientific Thought before Science. The World View of the *Brāhmaṇa* Texts), Goettingen, 1919.

Pali & Prakrit Languages

C. Lassen was the first to study Prakrit in his *Institutiones Lineua, Prakriticae*, Bonn, 1837. R. Pischel's *Grammatik der Prakrit Sprache* is still the best survey of literary Prakrit, although outdated in parts. It has once been described "the best Indian grammar available". W. Printz wrote on *Bhasa's Prakrit*, Frankfurt, 1921. H. Jacobi's *Ausgewaehlte Erzaehlungen in Mahārāshtrī* (Selected stories in Mahārāshtri), 1886, reprint 1967, serves as a valuable introduction. L. Alsdorf discussed the Prakrit used by Jains in *Les Etudes Jaino*, Paris, 1965. R. Schmidt compared *Śaurasenī* with *Mahārāshtrī* and *Māgadhi* in a Primer, *Elementarbuch der Śaurasenī mit Vergleichung der Mahārāshtrī und Māgadhi*, Hannover, 1924. R. Pischel wrote on the Apabhramsha known in his time. Modern studies got a fillip after H. Jacobi's discovery of an Apabhramsha text in a Jain library. L. Alsdorf's Apabhramsha studies, 1936 and 1937, are important publications in this field.

W. Geiger's *Pali, Literatur und Sprache* which appeared in English as 'Pali, Literature and Language', Delhi, 1968, is the best introduction to this language. H. Lueders discussed the language of the Buddha in his *Beobachtungen ueber die Sprache des buddhistischen Urkanons* (Observations on the language of the original Buddhist Canon), Berlin, 1954. The critical Pali Dictionary, begun by V. Trenckner, Copenhagen 1924, was continued by L. Alsdorf and

others. R. O. Franke discussed Pali grammar and lexicography in *Geschichte und Kritik der einheimischen Pali Grammatik und Lexikographie* (History and criticism of indigenous Pāli grammar and lexicography), Strassburg, 1902. Scholars taking an interest in Middle Indic languages today are H. Bechert and G. Roth (Goettingen), H. Berger (Heidelberg), U. Schneider and A. Mette (Muenster), V. Hinueber (Freiburg), W. Morgenroth, (Berlin), W. Bollee, (Heidelberg).

Modern Languages

Whereas scholars in former times mainly concentrated on Sanskrit, Pali and Prakrit, interest in modern Indian languages has increased in recent days. G. Budruss (Mainz) and M. Thiel-Horstmann (Bonn) specialised in modern Indo-Aryan languages, the former especially of the Hindukush area and in Hindi literature. P. Gaeffke (Philadelphia) and L. Lutze (Heidelberg), both study Hindi and Bengali. S. Lienhard (Stockholm) addressed some questions of Hindi grammar. B. Koelver (Kiel) works on Nevārī language and G. D. Sontheimer (Heidelberg) on Marāṭhī. A Schimmel of Harvard University translated Iqbal' *Javidname* into German verse. The missionary E. Trumpp wrote a grammar of the Sindhi language. Other missionaries contributed to the study of Draviḍian languages. B. Ziegenbalg, F. Kittel and H. Gundert published Tamil, Kannaḍa and Malayalam dictionaries respectively. H. Beythan wrote a Tamil grammar. H. W. Schomerus translated many Tamil texts into German. A. Lehmann, Halle, and A. Frenz, Stuttgart, both studied Tamil literature. B. Koelver (Kiel) edited Tulgu texts with Glossary, Wiesbaden 1969. H. J. Pinnow (Berlin) and D. Kapp (Heidelberg) specialised in Muṇḍā languages. H. Berger (Heidelberg) studies Burushāski.

Epic Studies

M. Winternitz, H. Jacobi and H. Lueders were instrumental in initiating work on the critical edition of the *Mahābhārata*. They contributed to epic studies in a number of publications. In H. Oldenberg's view, termed the *Ākhyāna* theory, the epic originated from metric dialogues, examples of which were found in the *Brāhmaṇas*. Prose parts were added later. This theory was discussed by L. Alsdorf in a paper "The Ākhyāna theory reconsidered" in "Journal of the Oriental Institute, Baroda," 1964. A. Holtzmann Sr. and his nephew, A. Holtzmann Jr. attempted to reconstruct the original text of the *Mahābhārata*, often in a subjective manner. In J. Dahlmann's opinion the *Mahābhārata* was the work of one author.

The controversy arising out of this assertion is called "the Dahlmann literature" by M. Winternitz. H. Jacobi's book on the *Rāmāyaṇa* was re-edited by E. Frauwallner, Darmstadt, 1970, who discussed later publications in this field in the introduction. A. Baumgartner also specialised on the *Rāmāyaṇa*. Today H. Brinkhaus (Hamburg) and G. V. Simson (Oslo) work on Epic Literature.

Puranas

The *Purāṇas* were the subject of W. Kirfel's research. He came to the conclusion that most *Purāṇas* had certain passages in common which belong to the oldest strata of this literature. P. Hacker continued the line of research, instigated by W. Kirfel. W. Ruben's "Krishna studies", 1936, 1937, deserves to be mentioned in this context. H. von Stietenron (Tuebingen) studied the influence of Iran on Indian sun worship in *Indische Sannepriester, Śamba und die Śakadvīpiya Brāhmaṇa* (Indian sun priests. Samba and the *Śakadvīpiya Brāhmaṇa*), Wiesbaden, 1966. A. Gali (Berlin) wrote *Bhakti in Bhāgavata Purāṇa*, Wiesbaden, 1969. Extensive work on the *Purāṇas* is today being done in Tuebingen under H. V. Stietenron.

Buddhism and Jainism

Buddhism and Jainism were studied extensively in Germany. Buddhism, in fact, has many followers in Germany. Buddhist texts were translated into German by K. E. Neumann, K. Seidenstuecker, Nyanatiloka (A. Gueth), and W. Geiger. The *Dhammapada* was translated by several authors. German translations are listed by H. Hecker in *Der Palt Kanon, Ein Wegweiser*, Hamburg, 1965. From 1904 onwards, Buddhist Sanskrit texts from Central Asia were published by H. Lueders, E. Waldschmidt, and the latter's students. O. von Hinuebers, Freiburg, studied Gilgit manuscripts. H. wrote a thesis *Das Samghātasūtra. Ausgabe und kommentierte Uebersetzung eines nord-buddhistischen Lehrtexts in Sanskrit und Sakish* (The Samghātasūtra. Text-edition and annotated translation of a Northern Buddhist text in Sanskrit and Saka), 1980. H. Oldenberg's book on the Buddha is still a classic. H. von Glasenapp's book on Buddhism is a good introduction for general reader. A more recent publication is *Die Religion des Buddhismus*, Berlin 1962/63, by D. Schlinloff (Muenchen). Modern trends in Buddhism were treated by H. Bechert (Goettingen) in *Buddhismus, Staat und Gesellschaft* (Buddhism, State and Society), 1967-73. E. Frauwallner wrote about Buddhist philosophy in "History of Indian Philosophy". H. Eimer (Bonn), L. Schmithausen (Hamburg), T. Vetter, (Leiden), and E. Steinkellner (Wien), are scholars of the younger generation who have

taken up this subject. M. Hahn (Bonn) studied Buddhist Sanskrit and Tibetan texts. He published *Candragomins Lokānandanāṭaka, Nach dem tibetischen Tanjur herausgegeben und uebersetzt, Ein Beitrag zur klassischen indischen Schauspieldichtung* (Chandragomin's *Lokānandanāṭak*, edited and translated from the Tibetan Tanjur, A contribution to classical Indian drama), Wiesbaden, 1974. An edition of Haribhatta's *Jātakamālā* in Sanskrit is in print.

A Weber, the first German scholar to study *Jainism*, thought that it was an offshoot of Buddhism. It was H. Jacobi who showed that *Jainism* was an independent religion. H. Jacobi edited and translated a number of Jain texts. Jain studies owe a great deal to W. Schubring's publications. His *Die Lehre der Jainas*, Berlin and Leipzig 1935, was translated into English, *The Doctrine of the Jainas*, Delhi, 1962. H. von Glasenapp's *Der Jainismus*, Berlin 1925, is a good introduction for the general reader. The tradition of Jain studies was continued by L. Alsdorf and E. Leumann. K. Bruhn, (Berlin), was the editor of Śīlāñka's *Caupanna-mahāpurisacariya*, 1954. He also wrote "The Jaina Images of Deogarh", 1969. G. Roth (Goettingen), A Mette (Muenster), and W. Bollee (Heidelberg) also specialised in Jain studies.

Indian Literature

Śākuntala was the first drama to be translated albeit from Sir. W. Jones' English version. Since then, a number of dramas have been critically edited and translated into German. Dramas were discussed by M. Winternitz and H. von Glasenapp in their histories of Indian literature. P. Thieme (Tuebingen) contributed a paper on Indian theatre to Kindermann's *Fernoestliche Theater*, Stuttgart, 1966. H. Lueders edited fragments of the earliest Indian dramas found in Central Asia and published *Das Sāriputraprakaraṇa, Ein Dramas des Aśvaghōṣa*, reprinted in "Philologia Indica, 1940". A. Hille branat and W. Ruben bath wrote on Kālidāsa. The former was the author of *Kālidāsa, Ein Versuch zu seiner literarischen Wuerdigung* (Kālidāsa. An attempt at his literary evaluation), Breslan 1921. The latter wrote *Kālidāsa, Die menschliche Bedeutung seiner Werke* (Kālidāsa. The human importance of his work), Berlin, 1956.

T. Benfey and H. Hertel studied narrative literature *Pañcatantra* and *Hitopadeśa*. Both traced the spread of fables from India to the West and East.

Poetry and Metrics

J. Nobel studied the *Alamkāraśāstra*. H. Jacobi contributed

to the study of Indian poetics and aesthetics. O. Boehlingk wrote on Dandin's poetry. A Weber's book *Ueber die Metrik der Indes*, Berlin 1863, is a comprehensive study of Indian metrics especially of the Vedic period. Today studies on Indian metrics are done by M. Hahn (Bonn).

Philosophy

P. Deussen, O. Strauss, E. Frauwallner and W. Ruben wrote books on the history of Indian Philosophy. R. von Garbe wrote a treatise on *Sāṃkhya*, J. W. Hauer on *Yoga*, P. Hacker studied early *Advaitavāda*. P. Deussen and G. Thibaut translated the *Śāṅkara-bhāṣya*. In recent times, Indian philosophy has been discussed by E. Steinkellner and G. Oberhammer (Wien); L. Schmithausen (Hamburg); W. Halbfass (Philadelphia); T. Vetter (Leiden); J. F. Sprockhoff (Bochum); F. Zangenberg (Durbon) and H. Brueckner (Heidelberg) and A. Wezler (Hamburg).

Grammar and Lexicography

O. Boehlingk, O. Franke, B. Lieblich, L. F. Kielhorn, W. Rau (Marburg), P. Thieme (Tuebingen) and R. Birwe (Koeln) deserve to be mentioned in connection with studies on Paṇḍini and other grammarians. T. Zachariae contributed a treatise on Indian lexicography to the Encyclopedia of Indo-Aryan Research. C. Vogel published Indian Lexicography in "History of Indian Literature", Wiesbaden, 1979.

Science and Medicine

J. Jolly's book *Medicin*, Strassburg 1901, is still the best survey of the theory and practice of *Āyurveda*. The oldest Sanskrit manuscript of a medical text, the Bower manuscript, was found in Central Asia. It was edited by R. Hoernle, who also wrote "Studies in the Medicine of Ancient India", Oxford 1907 and "Studies in Ancient Indian Medicine" in "Journal of the Royal Asiatic Society", 1906-09. E. Hass studied Indian medicine, especially the work of Sushruta. The *Aṣṭāṅgahridaya Saṃhitā* was translated and edited by H. Hilgenberg and W. Kirfel. Chapters 1 to 5 in Sanskrit, Tibetan and English were published in Wiesbaden, 1965 by C. Vogel (Bonn). R. Emmerick and R. P. Das (Hamburg) also specialised in Indian medicine.

In the field of natural sciences, G. Thibaut's contribution to "Encyclopedia of Indo-Aryan Research" was *Astronomie, Astrologie und Mathematik*, Strassburg, 1899. H. Jacobi also wrote several papers on astronomy. His conclusions regarding the age of the *Veda* are based on astronomical calculations. W. Petri (Muenchen)

wrote on Indo-Tibetan Astronomy, 1960.

Dharmaśāstra and Arthaśāstra

T. Goldstuecker, a German scholar living in London, edited a commentary on the *Mānavakalpa Sūtra*. Owing to his knowledge of Indian Law, he was often consulted by the British Government. G. Buehler compiled the "Digest of Hindu Law Cases" together with a *dharmasāstravid*, 1867-60. G. Buehler has contributed the volume "The Laws of Manu" to the "Sacred Book of the East". J. Jolly also studied Indian Law and wrote in "Encyclopedica of Indo-Aryan Research". G. D. Sontheimer (Heidelberg) wrote a doctoral thesis "The Hindu Joint Family, Its Evolution as a Legal Institution", Delhi, 1976. H. Brinkhaus (Hamburg) also specialises in Dharmasāstra. J. Jolly and J. J. Meyer published editions of the Arthashastra. A. Hillebrandt wrote on ancient Indian politics. Today E. Ritschl (Berlin) and F. Wilhelm (Muenchen) work on Arthashastra.

Epigraphy

F. Kielhorn, G Buehler, and E. Hultzsch helped elucidate Indian history and chronology by studying inscriptions and publishing them in *Epigraphia Indica*. G. Buehler's *Indische Palaeographie von 350 a. Chr. bis circa 1360 p. Chr.*, Strassburg, 1896, is still considered the standard work on this subject. E. Hultzsch, H. Lueders, and L. Alsdorf studied Ashoka inscriptions. K. L. Janest published *Studien zu den Ashoka Inschriften* in "Proceedings of the Goettingen Academy", 1959, 1961, 1969. H. Lueders' *Bharhut Inscriptions* was revised by E. Waldschmidt and M. A. Mehendale, Ootacamund, 1963. H. Humbach (Mainz) discussed the Aramaic inscriptions from Taxila, Wiesbaden, 1969. G. V. Mitterwallner (Muenchen) studies the Kushana and Gupta inscriptions.

History, Art and Archaeology

Indian history, art and archaeology have only recently been researched by German scholars. E. Waldschmidt, H. Hoffmann (Erlangen), H. W. Koehler (Berlin) and G. Budruss (Mainz) have contributed chapters on Indian history to world histories. H. Goetz M. Njammasch (Berlin), H. Kulke (Kiel) and F. Wilhelm (Muenchen) also wrote on Indian history. J. Luett and D. Rothermund, both teaching at Heidelberg's South Asia Institute, have modern Indian history as their field of specialisation.

H. Goetz surveyed Indian art in *Indien, Fuerf Jahrtausende indischer Kunst* (India, Five thousand years of Indian Art), Baden-Baden

1962. Other publications in this field are : H. Zimmer's "The Art of Indian Asia, its mythology and transformation", New York, 1960; K. Fischer's, *Schoepfungen indischer Kunst* (Creations of Indian Art), Koeln, 1959; H. Haertel and J. Auboyer's *Indien und Suedostasien* (India and Southeast Asia), Berlin, 1971. N. Gutschow (Kiel) specialises in Indian architecture. H.G. Franz (Graz) published *Hinduistische und islamische Kunst Indiens*, Leipzig, 1967. G. von Mitterwallner (Muenchen) specialises in Indo-Portuguese art and in Kushana and Gupta art and numismatics. E. Fischer (Zuerich) takes an interest in tribal and folk art. H. Rau (Stuttgart), whose field of specialisation is Buddhist art and architecture, is at present making a survey of temples in the Kathmāndu valley. H. von Stietenron (Tuebingen) and, K. Bruhn (Berlin) study Indian iconography. H. Haertel (Berlin), former director of the Museum of Indian Art in Berlin, has been doing archaeological research at Sonkh in Mathura district for several seasons. A Gail and M. Yaldiz (Berlin), K. Fischer (Bonn), H. Mode and H. Mode and H. Plaeschke (Halle) wrote several books on Indian art.

Rāgamālā paintings were published by E. and R. L. Waldschmidt in "Miniatures of Musical Inspiration", 2 volumes, Wiesbaden, 1966/67. A. Dallapiccola, Heidelberg, has taken up the study of Rāgamālā paintings as well as Paithan paintings. She published *Die Paithan Malerei Studie zu ihrer stilischen Entwicklung und Ikonographie*, Wiesbaden, 1980. D. Schlingloff (Muenchen) wrote "Studies in the Ajanta paintings", New Delhi, 1987.

Music

R. Simon studied Vedic notations. J. Kuckertz (Berlin) wrote "*Form und Melodiebildung der Karnatischen Musik Suedindiens*" (Form and Melody in the Carnatic Music of South India), 2 volumes, Wiesbaden, 1970.

New Trends

A new approach to Indological studies is being attempted in the South Asia Institute in Heidelberg. It was founded in 1962 to promote research on the problems of developing countries. This Institute has a department of Indology where Sanskrit and modern Indian languages are taught. Other departments are those of Archaeology, Comparative Agrarian Policy and Rural Sociology, Economics, Ethnology, Geography, History, History of Art, History of Religion and Philosophy, Law, Political Science, Sociology and an Institute of Tropical Hygiene and Public Health. One project undertaken

by this Institute was an interdisciplinary study of the temple city of Puri and the Jagannāth cult. The late A. Eschmann, H. Kulke and G. C. Tripathi jointly published "The Cult of Jagannāth and the Regional Tradition of Orissa", New Delhi, 1978.

One of the major projects undertaken in Germany today is the cataloguing of all Oriental manuscripts in German universities, State libraries and private collections. W. Voigt, former head of the Oriental department of the State Library in Marburg began this task in 1959. W. Schubring had described the Jain texts 1944. K. L. Janert (Koeln) published a catalogue of Indian manuscripts in 1962. He also wrote "An annotated bibliography of the catalogues of Indian manuscripts", Wiesbaden, 1955, in which he listed 339 titles. E. Waldschmidt catalogued the Sanskrit manuscripts from Turfan. A. Wezler (Hamburg) heads the Nepal-German Manuscript Preservation Project. A number of studies have been undertaken. One of the aims of the project is the conservation of manuscripts.



ENVIRONMENTAL PROTECTION THROUGH *AHIMSA*

Increasing violence has created an imbalance at various trophic levels of the environment. Its protection is only possible by maintaining a triangular relationship among men, animals and plants. Unprecedented killing of animals and deforestation have enhanced the problem enormously. These can be optimized by the *ahimsak* way of life, which includes the simple methods of living and positive attitude towards all forms of livings as desired by self. It also help in enhancing ethical, moral, social and even spiritual aspects of life. A non-vigilant man proceeds either into irrationality in which violence takes a course of law or mechanical automatism which lacks value-system.

Environment supports all living-beings and help them in keeping their body and soul together for a particular period-life span. They need not be disturbed, deformed or even destroyed. It is, therefore necessary that our personal, social and even national life has to be planned in a way so as to minimise the disturbances in the life of other living-beings.



ESSENCE OF LIFE

The life can be considered as a state of being living with consciousness. There are many explanations for the word 'life'. Literary persons tried to define it in unexplanatory words like joy, struggle, pleasure etc., whereas scientists tried to explain in scientific manner by searching experimentally verified proofs from all corners of knowledge. Though, people from all fields still not explain the word 'life' so as to satisfy our curiosity.

The desire to understand the causes for the state of being living led the scientists to reach upto the level of chemical compounds like DNA, RNA, proteins and enzymes. Scientists have succeeded in synthesising these compounds in the laboratory but failed to inject the 'LIFE' (energy or soul) responsible for bringing the state of living. Scientifically, we can say that life is an energetic organic (DNA/Protein/RNA) compound. The method of making organic compounds energetic is still 'beyond science'.

The inner nature or most important quality of the life can be coined as 'essence of life'. Now to explain or write about the essence of life cannot be justified till we do *not* have a clear understanding of life. Any how if we consider energy (soul) with organic compounds as life then there is a force (consciousness) in the energy. Our scientific knowledge proved that energy can neither be created nor destroyed so as 'soul' according to our religious knowledge. Thus a close relationship between soul and energy can be easily established.

It is believed that religion is the basic nature of soul. Religion is a binding force of one soul with another soul. This force is present in all livings of the earth and they do love, attract and even cooperate with each other when they realise the reality of life and soul. It is scientifically proved that each and every living cell has energy (soul) and its voltage (as in case of electric) can be measured. For example a plant cell have 0.4 to 0.3 volt whereas in human it may be upto 90 volt. Now we can understand the amount of energy present in a human being (About 7500 billion living cells in an adult body).

The essence is smell and power of life, which has been realised and understood by the great human of the earth (say incarnation of God or Saints). Thus understanding and realising about our inner environment is more important than outer environment. To bring and establish purity and improvement in outer environment, the inner has to be purified first. This means understanding the life and its essence first than other natural components.

—Dr. Suresh Jain

SYĀDVĀDA AND THE PRINCIPLE OF COMPLEMENTARITY

□ *Dr. S. C. JAIN*

Syādvāda, in general, is taken to mean that the truth of a proposition is admitted with an allowance for the truth of its opposite. The validity of such statements is based on the nature of reality. So it is said that, “in a real position is concomitant with negation and vice versa, position and negation implying opposing traits inhering in the same locus”.¹ Thus “Syādvāda involves the demonstration of the opposing powers of the real”.² It proceeds on the ground of contexts bringing one or the other power to light, but not by reducing the other to a non-entity. In other words “every real establishes itself by position; and at the same time it differentiates itself from what is other than itself by negation”.³ “If along with the thesis, the antithesis is also established, it is because it suits the nature of the reals”⁴, says Vidyānanda. Jainism declares that “all reality is of the nature of *anekānta*”.⁵ Hence position and negation go together, co-operate with each other, combine to make a whole and thus demonstrate the identity of a real in its fullness.

In the field of science “the principle of complementarity, which we owe principally to Niels Bohr, is perhaps the most significant and revolutionary concept of modern Physics. The complementarity approach can enable people to see that seemingly irreconcilable points of view need not be contradictory. These, on deeper understanding, may be found to be complementary and mutually illuminating—the two opposing contradictory aspects being parts of a ‘totality’, seen from different perspectives”.⁶ The similarity between Syādvāda and the principle of complementarity is striking and encouraging. The former derives the parts from the whole, while the latter makes a start with the parts and points to the whole. These principles aim at establishing the validity of both the synthetic and the analytic ways of understanding reality. There may not be an agreement in various details of their explanations, but the community of the central truth implied by them is very clear.

The seeds of Syādvāda may be traced back in the Vedas, the *Upaniṣads*, *Vedānta*, *Jainism* and *Buddhism* in the form of reconciliation

of opposites. *Nāsadiya śūkta* states that before creation, the state is neither existent nor non-existent.⁷ The Upaniṣads resolve the opposition between two extremes and effect a harmonious reconciliation between them. In the Bhagvatī sūtra of the Jainas, Lord Mahāvīra answers the questions of his disciple, Gautama and establishes the validity of the opposing situations and propositions by supplying suitable contexts to them. Buddhism also upholds the doctrine of fourfold predication; the real is seen by it in its four aspects of position, negation, position-cum-negation and inexpressibility. In the field of Western philosophy Immanuel Kant also solves his anomalies by adopting suitable angles of view, and thus brings about reconciliation among the mutually opposing situations. Hegel's approach to the problem is also noteworthy. He conceives of a thesis and its antithesis, and reconciles them in the synthesis. This synthesis is again subjected to the same process, and thus Hegel's thought undergoes a pyramidal movement. Coming to Physics Heisenberg's discovery of the region of indeterminacy opened a new vista for exploration of reality. In this region of fine matter the universality of the law of causation is disturbed, as uncaused action and motion is noticeable in it. The theory of probability is suggestive of the same truth. The Euclidean geometry is now superseded by modern ideas which almost run against the old ones. These situations do not present a difficulty in the way of modern Physics and Mathematics. The principle of complementarity, promises the possibility of accommodating widely divergent situations and experiences into an underlying harmony leading to the idea of wholeness. The principle of complementarity announces that so far what we held as mutually opposing aspects of reality are found to be complimentary to each other and pointing to a harmonious whole. We failed to approach this underlying truth about existence owing to paradigms which surrounded our minds under the pressure of old rigidity and formalism of thought. This principle of complementarity, hoped to be pregnant with the capacity to throw new light on philosophical, social and moral problems, may be seen to be very close to the doctrine of Syādvāda running through ages under varying thought-systems wittingly or unwittingly. It is very likely to subside even the opposition between the philosophers and the scientists to join a common venture. The scientists themselves think that the theoretical physicists are the true philosophers, according to Dr. D. S. Kothari. 'What is new is the fact that relativity and quantum mechanics embody the same line of thought as one finds in the Syādvāda logic. Further the Syādvāda approach enriches

our understanding of complementarity in physics".⁸

The analytic approach to understand and explore reality has got great importance in our study of reality; but to ignore the fact that the analysed elements have been abstracted from a whole leads to various forms of absolutism. The relative elements are true when understood in the context of the whole. Comprehensive knowledge consists of the knowledge of the real in all its aspects; "partial cognitions are true only as related to the whole and hence related mutually, otherwise they are false", says Dr. N. M. Tatia.⁹ "In order to express the internal harmony of the apparently opposed characteristics and also to attain logical and linguistic precision, the Jaina philosopher has proposed to prefix the restrictive expression *syāt* (as seen in the title of the doctrine) which means in some respects or with reference to those propositions which have some controversial characteristics as predicates".¹⁰ The technique adopted by the Jaina in this context may not be approved unanimously, but the spirit of so restricting the scope of the propositions and concepts may be seen to run through all forms of thinking, including even that of the scientists. The restrictive contexts are very often unwillingly and unconsciously recognised in our thinking. It is also held that their explicit mention becomes unavoidable where it is found necessary. Such a practice is in no way obstructive to the progress of *Syādvāda* logic and the complementarity approach to reality.

Jainism introduces another doctrine under the title '*nikṣepa*' meaning installation, which, in general, is purposed "to bring under purview what is desired or required (*prākṛta*) and to brush aside what is not desired or required (*aprākṛta*)".¹¹ In other words the doctrine is devised to keep the subject proper in the focus of our study and exposition and also to put away what does not come under purview as subject proper. To achieve this aim the doctrine prescribes various ways, the first of them being the development of nomenclature and terminology (*nāma*) to make a start.¹² The process required by the doctrine of *nikṣepa* precedes our cognitive activity which is followed by the process of predication for communication of what we cognise. The choice of words and terms helps the process of understanding reality for ourselves and that of communication for other, to a great extent. The choice of terms and words is also to be supplemented by the proper formation of propositions and sentences to facilitate the proper presentation of our judgments. To fulfil this aim, in different fields of study there has been a gradual emergence of a suitable type

of language. So we talk of the language of Science, the language of Mathematics, the language of Logic etc. All this amounts to a choice of terminology, forms of statement and ways of their presentation. This extension and construction over what is known as common or natural language is considered necessary for the progress of knowledge and its communication. Hence ‘Bohr’s first and continuing preoccupation with philosophical problems related to the use of language for unambiguously describing our experiences’.¹³ The doctrine of *nikṣepa*, specially the *nāma nikṣepa*, of Jaina philosophy is meant to avoid superfluity and ambiguity in our understanding and exposition. ‘The role of the complementarity approach and of *Syādvāda* logic is to give less ambiguous meaning to the terminology of natural language to provide greater insight into the relationship between human mind and reality’.¹⁴ If it were possible (we optimistically think that it will be possible) to evolve a suitable language to represent the truth about reality more faithfully, many of our contradictions which are only seemingly true will melt into a harmonious whole. We may think that Mahāvīra, the original propounder of *Syādvāda*, must have delivered his discourses in the language of *Syādvāda* which could be understood by all in their own ways. It must have been a language underlying different tongues of the people present in his audiences. Again, language may attain heights of evolution, still, as a human creation, it will leave field for further progress. Thus the principle of inexpressibility is guarded in a safe dome by nature; not that it is so because of the incapacity of man to express them through speech. The relation of knowledge between human mind and reality is quite possible; but the relation of expressibility between man’s speech and reality is limited by nature. Such is the conception about inexpressibility in Jaina philosophy.

‘There is no possibility’, according to K. C. Bhattacharya, ‘of a philosophy progressing towards a single unanimously accepted solution’.¹⁵ With the development of thought and language a philosophy must rise to suit higher and higher levels of reality in respect of its comprehension and expression. As we see in Hegelianism, thought moves from thesis to antithesis and then to synthesis. The movement does not stop at synthesis which again becomes a thesis for the next stage and opens the way for further movement of thought. The basic and deep-rooted truth about *Anekānta* (or *Syādvāda*) is announced as ‘*Anekānta* too is *anekānta*’,¹⁶ the first term ‘*anekānta*’ in the statement being a noun and the second one being an adjective. It must mean that the process initiated by *Anekānta* will

continue giving rise to further systems of thought. It does not carry much importance whether this movement of Anekānta is considered in a horizontal or a vertical direction. We may attain Anekānta-position (if it can at all be held to be a position) by means of synthetic (*pramāṇa*) and analytic (*naya*) types of knowledge, but retracing its way back or moving in a circular way does not seem to be the correct explanation of the statement. *Anekānta* should move further with the aid of the two types of knowledge. Anekānta is not the final destination of the journey, but it is an ever continuing process.

□

References :—

1. Samantabhadra : *Āptamīmāṃsā*, verses 17,18.
2. Kundakunda : *Samayaprābhṛta*, 1914, p. 213.
3. S. C. Jain : *Structure and Function of Soul in Jainism*, p. 6
4. Vidyānandi : *Śloka-vārtika*.
5. Amṛtacandra : *Puruṣārthasiddhyupāya*, verse 23.
6. D. S. Kothari : *Philosophical Ideas, The Complementarity Principle and Eastern Philosophy*, p. 325.
7. Nāsadīyasūtra : *Ṛgveda*, 10.121.
8. D. S. Kothari : *Philosophical Ideas, The Complementarity Principle and Eastern Philosophy*, p. 326.
9. Samantabhadra : *Āptamīmāṃsā*, verse 108.
10. Dr. N. M. Tatia : *Jaina Philosophy, published in Jainism edited by Gurvachan Singh Talib*, p. 36.
11. Pūjyapāda : *Sarvārthasiddhi*, (Bharatiya Jnanpith, 1989) p. 13
12. Umāsvāti : *Tattvārthsūtra*, I, 5.
13. D. S. Kothari : *Philosophical Ideas, The Complementarity Principle and Eastern Philosophy*, p. 326.
14. Ibid., p. 327.
15. K. C. Bhattacharya : *Contemporary Indian Philosophy*, p. 84.
16. Samantabhadra : *Svyarṃbhūstotra*, verse 103.

□

WAYS TO EASE OUT STRESS

The first and the foremost way to Stress Management is to CALM DOWN. To control immediately the psychological aspect or not to have the fear feeling may not be easy and therefore control the physical imbalance by controlling Adrenalin discharge. This will happen when you sit down and calm down.

Suppose you are feeling uneasy by a **tight ring in your finger**. You try hard to take it out but it does not. It becomes more tight. The trick is just to loosen your finger muscles and the ring slides out easily. Exactly the same way the moment you loosen your muscles and sit down calmly, your stress will slide out of your mind.

Unhide the culprit—Sit down and try to find out *what is making you tense*. As soon as you have established just why you feel the way you do, you will be less disturbed and more relaxed because the *known is always less frightening than the unknown*

Anticipate the problem & think of solution—Try to anticipate the problem which your anxiety state might give you and how you might deal with them. It will automatically ease you since the problem is not unknown now and so *it will not take you by surprise and hence you will not panic*.

Prepare for the worst—Although one could always hope for the best, yet you consider the worst consequence and prepare yourself for it. Once you are prepared for the worst results nothing in this world can trouble you and disturb you. *And remember no calamity is going to fall on you*.

Control your anger—“*No one could have everything done the way he wanted. And so why I should be neurotic to insist on having my own way*”. Learn to *auto-suggest* yourself with these sentences and control your anger which otherwise will cause you frustration and stress.

“**A stitch in time saves nine**”—Because a job is not done when it ought to have been, it requires *undue urgency causing haste*, which in turn gives rise to stress. Just by planning a little bit and completing the work in time (*Learn TIME MANAGEMENT if you do not find time*) will save you from a big amount of stress. *Start BIT by BIT and do it DAY by DAY*.

Last Resort—If everything else fail, or you cannot apply them to you then, sit down and *start thinking of a happy moment* you had any-time in the past and **SMILE**. Your muscles will loosen, heart beat regularise. It will calm down the nervousness, which will control the hormone secretion and the result-stress will go.

—Bajrang Lal Jain

THE ŚABDĀDVAITA CONCEPT OF BHARTṚHARI AND THE JAINA LOGICIANS

□ *Dr. Narendra Kumar Dash*

The grammarian-philosopher Bhartṛhari opines that *Śabda* is the substratum of the world of appearance and thus he accepts the theory of *Śabdādvaita*. However this key-stone of the Grammarians' system of Metaphysics has elaborately been controverted by the rival schools. Here we propose to record the dialectics of the Jaina Philosophers, one of the rival schools of Metaphysics.

The grammarians accept only the determinate perception as the only possible type of perceptual cognition, and thus according to them the object is comprehended together with the term expressive thereof. We cannot conceive anything without being at the same time aware of the designation that is associated with it.¹ Therefore, every act of our knowledge is relational, its content being invariably determined by a name. If the name is extracted from the form of cognition, it ceases to be a cognition as it lacks illumination perse. It is the name that illumines our psychical processes, just as according to the Vedantist viewpoint it is the *Brahman* that illumines the inert objects of knowledge.² Even also, in the case of a new-born child the perceptual cognition is determinate, but in this case the awareness of the term determination is not so vivid and distinct as in the case of the cognition of a grown-up man. Though the child has no knowledge of the relation between the word and its sense in his birth, yet the possibility of its being invested with an impression of the pre-natal knowledge of the relation cannot be ruled out³ Thus the word is the constant determinate of our cognitions and it cannot be separated from the later without at the same time destroying their very essence.

It is a step from the above doctrine to the theory of *Śabda* being the ultimate reality, the material cause of all this phenomenal Universe; which is but a *vivarta* of *Śabdabrahman*⁴

This theory of grammarians has been subjected to severe criticism by the Naiyāyikas, Mīmāṃsakas, Buddhists and Jains. Now, for our practical purpose we discuss the view of the Jaina logicians like Vidyānandi (9th Century A.D.), Abhayadev Suri (11th Century A.D.),

Prabhācandra (1st half of 12th Century A.D.), Vādideva Sūri (later half of 12th Century A.D.) and Shree Yaśovijaya jee (18th Century A.D.).

The Jaina logicians argue that the *Śabdabrahman* is a *prameya* and a *prameya* needs a *pramāṇa* for its recognition.⁵ There is no *pramāṇa* through which we can prove the existence of the *Śabdabrahman*.⁶ In the *Tattvārthaslokavārttika*, Vidyānandi opines that the *Śabdabrahman* is not proved by Perception, Inference and Verbal Testimony.⁷ This standpoint of Vidyānandi is also supported by Śāntarakṣita, Abhaya-deva, Prabhācandra and Vādideva. However, Prabhācandra and Vādideva ask the grammarians during their discussion that the *Śabdabrahman* is cognised by *indriyajanya pratyakṣa*, or by *atīndriya pratyakṣa*, or by *Svasamvedanaśīla pratyakṣa*? The first alternative is not qualified enough to recognise the *Śabdabrahman* as it is not recognised by the Jaina Logicians. They argue that this type of *pratyakṣa* is illusory like the perception during dream.⁸ Thus the sensual perception may not be taken as a cause of the perception of the *Śabdabrahman*. In the *Sanmattarka Prakaraṇa* it has been argued that a sense perceives that which is present and which is also large (*sthūla*) in nature. Therefore, the *Śabdabrahman* is not perceived by the sense organs. This is also supported by Prabhācandra in his *Prameyakamalamārtaṇḍa*.⁹ During the discussion, both Prabhācandra and Vādideva Sūri raise the same question—by which sense organ do we perceive the *Śabdabrahman*? either by *Śrotrendriya* or by any other *indriya*?¹⁰ Since the *Śabdabrahman* is beyond the subject of the *Śrotrendriya*, that may not be a cause to know the *Śabdabrahman*. If we accept that this is subject of the *Śrotrendriya*, then we have to accept that everything should be known by each and every *indriya* (sense organ). But it is not possible to accept. Again, in the *Nyāyakumudacandra* it has been explained that the other sense organs (i.e. other than *Śrotrendriya*) also are not qualified enough to be the causes for the perception of the *Śabdabrahman*; because *Śabda* may not be a subject of any other sense organ other than the *Śrotrendriya*.¹¹ Thus it may be concluded that the *Śabdabrahman* is not recognised by the *indriyajanya pratyakṣa*.

The *Śabdabrahman* is also not a subject of the *atīndriyapratyakṣa*. In the *Nyāya-Kumada Candra*, Prabhācandra opines that the *anindriya-pratyakṣa* perception without any sense organ is not accepted by the grammarians and therefore that should not be the cause to establish the *Śabdabrahman*.¹² In the reply the grammarians argue that a *Yogi* realises the existence of the SB (*Śabdabrahman*) through *Dhyāna* and therefore, the existence of the SB is proved by *atīndriyapratyakṣa* of

the *Yogis*. Now, the Jaina logicians again argue that if the SB is the only ultimate reality then who will be there to realise it ? and if we accept to the *Yogis*, then we have to accept to *Yoga* also. Thus, the concept of *advaita* 'non-duality' will no more exist.¹³

Further, Prabhācandra and Vādideva Sūri ask the opponents that if there exists the, SB then why do we not feel the existence of that ? Here they give two alternatives :

- (i) Due to the absence of *Grāhaka* (*Grāhakatvabhāva*) or
- (ii) Due to the *Avidyā* (*Avidyābhūta*).¹⁴

We may not say that due to the first alternative the SB is not manifested, because, in the *Śabdādvaitasiddhānta* the SB is *grāhaka* and the *grāhaka-śakti* always exists in it;¹⁵ and the second alternative also is not possible as the existence of *Avidyā* is not recognised by the Jaina logicians. It is not out of context to mention that in the *Nyāyakumudacandra*, Prabhācandra categorically rejects the existence of the *Dvaividya*.¹⁶ This standpoint of Prabhācandra is also supported by Vādideva Sūri in the *Syādvādaratnākara*.¹⁷ In this context the Jaina logicians again argue that since the *grāhaka-śakti* exists always in the SB, we cannot say that due to the absence of the *grāhaka-śakti* the SB does not manifest. Again, Prabhācandra and Vādideva Sūri argue that *Avidyā* is neither identical with SB nor with other than the SB¹⁸ and if it is other than the SB then either it is a *vastu* or it is a *avastu* ? Both these alternatives have been rejected by the Jaina logicians in their respective works and, therefore, according to them *avidyā* is neither a *vastu* nor an *avastu* viz. (*na ca laghepa praheyatiśayasya brahmaṇaḥ tadvaśāt tathāpratibhāso muktotiprasaṅgāt nāpyavastuvaśād vastuno'nyathābhāvo bhavati. atiprasaṅgāt ca/* N.K.C., p. 143) and *atha vastuḥ, tanna, abhyupagamaksatiprasakteḥ*, Ibid, 1/5, p. 143). Thus the existence of the *avidyā* has been rejected by the Jains and it may be suggested that like the *Indriya-pratyakṣa*, the SB is also not proved by the *Anīndriya-pratyakṣa*.

Now, we should think about the *Svasarīvedana-pratyakṣa*. According to Vidyānandi if the knowledge which is *kṣaṇika* and *nirāṣa* (Buddhists views) is not proved by the above *pratyakṣa*, then how shall we establish the existence of the SB by the said *pratyakṣa* ?¹⁹ In this connection, Prabhācandra says that during dream (*Svapnāvasthā*) we cannot feel the SB, which manifests with *ātmañyoti*, by the *svasarīvedanapratyakṣa*; otherwise, each and every creature will attend liberation without any effort. Because, it has been categorically mentioned in the *Advaita-śabda-siddhānta* that the *svasarīvedanatva* of the SB, which manifests with *ātmañyoti*, is liberation. Again, he

explains that if the SB will be *svasaṁvedanaśīla*, then the words like *ghaṭa* and *paṭa* should be *svasaṁvedanaśīla*, as these words are the *vivarta* of the SB. But this is not accepted, because all the words are not *svasaṁvedanaśīla*. Thus, the Jaina logicians argue that the SB is not perceived by *svasaṁvedana-pratyakṣa*²⁰. Now we may conclude that the existence of the SB is not proved by perception.

Like perception, the existence of SB is also not proved by inference, another means of the valid knowledge. Secondly, it is also a fact that the inference is not recognised by *Śabdādvaitavādīs* as a way of valid knowledge. In this connection, Vāḍideva says that : *nāpyanumāneṇa, tasya tatsadbhāvavedakasya kasyacidasambhavāt*.²¹ Ācārya Vidyānandi also explains vividly regarding this problem. According to him, since in the *Śabdādvaiatsiddhānta*, inference is not recognised as a means of valid-knowledge, how can we prove the existence of the SB by inference ?²²

Again the Jain logicians ask that by which inference the *Śabdādvaitavādīs* prove the existence of SB; either by *Kāryaliṅgānumāna* or by *Svabhāvaliṅgānumāna* ?²³ This is also supported by Abhayadeva Sūri and Prabhācandra.²⁴ According to Jaina scholars the first alternative is not justified here, because the eternal SB has no action; neither it has any action chronologically (*arthakriyā*), nor it has any action collectively. If there is no action, then how can we say that the SB may be established through *kāryaliṅgānumāna*. The second alternative also has no scope to prove the existence of the SB; because it is needed first to establish the existence of the *dharmī* SB and after that only we can prove it by inference, which is the *Svarūpabhūta* dharma of the SB. But when the *dharmī*, SB, has no existence, then its *Svabhāvaliṅga* is automatically regarded as non-existence. Thus the SB is not established by inference, the second way of valid knowledge.

In the *Tattvārtha-Śloka-vārttika*, Vidyānandi refutes the possibility that the SB is proved by the means of Verbal Testimony. He says :

āgamādeva tat-siddhau bhedasiddhistathā na kīm |
*nirbādhād-eva cettavyam na pramāṇamatarād-ṛte ||*²⁵

Further, he explains that the followers of the *Śabdādvaita* concept say the existence of the SB is recognised by verbal testimony, which is free from any kind of obstacles (*bādhārahita*). Here Vidyānandi does not support the *nirbādhātva* of the verbal testimony as there is no valid knowledge to prove this.²⁶

Again, an interesting doubt has been raised by Jaina logicians like Vidyānandi, Prabhācandra and Vāḍideva Sūri that the SB is

identical with verbal testimony or the SB is separate from the verbal testimony ? In the case of former alternative the verbal testimony may not be a cause for the establishment of the SB due to the lack of the relation of cause and effect (Kārya-kāraṇa bhāva). The second alternative is also impossible here, because if we accept two things like the SB and the verbal testimony, then the *advaita* “non-duality” character of the SB will no more exist. It is needless to say here again that the grammarians accept the SB as “non-duality”, and says every thing is produced from it viz.;

*tad-āgamasya niścetum śakyam jatu parikṣakaiḥ |
nacāgamastato bhīnnaṁ samasti paramārthataḥ ||*²⁷

To refute the objection of the Jain logicians, the grammarians may argue that Verbal Testimony is the *Vivarta* of the SB. However, Vidyānandi nicely rejects this type of argument of the grammarians. According to him if the Verbal Testimony or will be the *Vivarta* “appearance” of the SB like other things, then this means of knowledge will be treated as *avidyā*, which is *asat*. Now he asks the opponents that an *asat*, i.e. the Verbal Testimony may not be a cause for a *sat* one i.e. the SB viz. *tad-vivartastva vidyātma tasya prajñāpakāḥ katham* /²⁸ Thus the verb as testimony may not be a case to prove the existence of the SB.

In the *Tattvārthaślokaṅkārikā*, Vidyānandi not only rejects the existence of the SB, but directly attains Bhartṛhari quoting his first verse from the *Vākyapadīya*.. He also opines that there is no such type of Brahman who is without beginning or end, whose very essence is the word, who is the cause of the manifested phonemes, who appears as the objects from whom the creation of the world proceeds viz.

*tato naiva param brahmastyānādinidhanātmakam |
Vivarte tvarthabhāvena prakriyā jagato yataḥ ||*²⁹

Thus the Jaina logician rejects the existence of the SB, which is, according to the grammarians, the real cause of this universe. They not only reject the existence of the SB, but who argue that the world is not engulfed with words “śabdamaṃya”. According to them—since the SB is eternal in character, how any change “*vivarta* or *pariṇāma*” is possible with that ? Again, they think—if the grammarians argue that at the time of change the SB leaves its own quality or not ? As the SB is eternal, the first alternative does not seem to be possible and if the second will be accepted, then, as all the things are engulfed with the SB, a dwarf “*Vadhira*” will be able to listen everything after seeing the things produced from the SB—viz., *rūpa samvedana samaya vadhirasya śabda-samvedana prasaṅga*.....etc. /³⁰

Like this, the Jainas studied the philosophy of grammar in

general and Bhartṛhari especially and rejected the view that the world is produced from the SB, which is eternal and the world is engulfed with words. Besides, they reject the theories like : knowledge in general is *śabdānuviddha*, there is eternal relation between *śabda* and *artha* etc. These kinds of studies among the Jainas had taken place in between 9th century A. D. to 19th century A. D. The Jainas not only studied the philosophical side of the Sanskrit grammar, but they also prepared their own treatises on the word-formation, some of the works are critically edited and published, but many works are still in manuscript forms.

□

References :—

1. To understand the *Vaiyākaraṇa* position fully we must know the generally accepted views regarding the nature of cognitions. Cognitions are of types : *savikalpaka* 'determinate' and *nirvikalpaka* 'indeterminate'. Of these, the Buddhists regard the indeterminate one as alone valid, the determinate perception being invalid, based as it is on the above-mentioned determinants that are purely subjective constructions (*Kalpanā*) without any objective reality to correspond with (*niyaya praveśa of Dīñnāga*). The Mīmāṃsakas and the Naiyāyikas, however, uphold the validity of both. But according to the grammarians, it is the determinate perception that is the only possible type of perceptual cognition viz.,

*na so'sti pratyayo loke yaḥ śabdānugamārte |
anuviddhamiva jñānam sarvam śabdena bhasate ||*

The *Vākyapadīyam*, I-123

2. Cf. *Vāgrūpatā cedutkrāmedavabodhasya śāśvatī |
na prakāśaḥ prakāśeta sa hi pratyavamarśinī ||*

Ibid. 1-124

3. Refer the *Kāśikā* of Sucarita Mishra on the verse 112 of the *Śloka-vārttika*, pt. 1 1926, pp. 248-49.

4. The Sāmkhya system admits that the Universe is the outcome of a gradual process of evolution of the primordial matter (*pradhāna*), Like this the grammarians suggest that the objects are the products of the *śabdabrahman* viz.,

*yathā viśuddham ākāśam timiropapluto janaḥ |
saṃkīrṇam iva mātrābhīscitrabhirabhimanyato ||
tathedam amṛitam brahma nirvikāram-avidyayā |
kaluṣatvam ivapannam bheda-rūpam prapadyate ||*

These two verses are cited by Bhartṛhari in his gloss on *Vākyapadīya*, I—1.

5. The Mīmāṃsakas also argue that *prameya* is recognised only by *pramāṇa* viz., *mānādihina-meya-siddhi*.

Abhayadeva in his *Sannatitarka-prakarāṇaḥ* says : *pramānādihina hi prameya-vyavasthā* (p. 384).

6. Cf; *na ca evambhūta brahmasiddhaye pramāṇam-upalabhyate* ;

Ibid, 3rd Pt. Gāthā 6; p. 384.

7. Cf; *brahmano na vyavasthānam-akṣaṇānīt kutaścara |*

Refer note 8 below.

8. Cf; *brahmaṇo na vyavasthānam-akṣajñānīt kutaścana | svapnadāviva mithyāvattasya sakalpataḥ svayam ||*
The *Tattvārthaśloka-vārttika* 1/3, sūtra 20, Kanike-97, p. 240.
Also *Tattvārtha sūtra* (with explanation) Bombay, 1 am 1490, p. 21.
9. Cf; na khalu yathopavarṇitasvarūpam śabdabrahma pratyakṣataḥ pratīyate, sanvada pratīnyatārtha svarūpagradaktven aivasua pratīteḥ ||
The *Prameyakamala-mārttaṇḍa*, 1/3, Bombay, 1941, p. 45
10. Refer the *Nyāyakumudacandra*, 1/5, p. 142
11. Refer the *Syādvādaratnākara*, VII/6, p. 78 and the *Nyāyakumudacandra*, I/5, p. 142.
12. Cf; *nāpyatīndriyapratyakṣād; tasyaivatrasambhavāt*; Prabhācandra on the *Nyāyakumudacandra*, p. 142; also the *Syādvādaratnākara*, I/7, p. 99.
13. Ibid.
14. Cf; athāsti kasmanna prakāśate-grāhakabhāvāt avidyābhibhutatvadvā | The *Nyāyakumuda-Candra*, I/5, p. 142.
15. Cf; *grāhyatvam grāhakatvam ca dve śakti tejaso yatha | tathaiva sarvaśabdānāmete pṛthagavasthite ||*
The *Vākyapadīya*, I-55.
16. Cf; *sahī brahmaṇo vyatirikta atiaikta vā ?*
etc, The *Nyāyakumuda-candra* I/5, p. 143.
17. Cf; *sahī śabdabrahmaṇaḥ śakāśādbhinna bhaved-abhinna va,*
II/7, p. 99
18. Refer note 16 above.
19. Cf; *svataḥ saṃvedaītsiddhīḥ kṣaṇīkanāmsavittivat | na parabrahmaṇo nāpi sa yukta sādhanādvīnā ||*
The *Tattvārthaśloka-vārttika* I/3, sūtra 20, p. 240
20. Cf; na ca ghaṭādiśabā'rho vā svasamviditasvabhāvaḥ yatastadanvitatvam svasam vedamataḥ siddhayet, asvasamviditasvabhāvatayaivasya pratīpraniprasiddhatvāt |
The *Nyāyakumuda-candra*, I/5, p. 144
21. The *Syādvādaratnākara* I/7, p. 100.
22. Cf; *nanunānāttortthānam pratītedurlabhatvataḥ | paraprasiddhirapyasya prasiddha napramāṇika ||*
The *Tattvārthaśloka-vārttika*, I/3, Sūtra. 20; Verse—97. p. 240.
23. Cf; *nāpyanmānataḥ|tathā hi anumanam bhāvāt-kāryaliṅgam bhavet svabhāvaliṅgam vā ?* Kamalaśīla on *Tattvārthasaṃgraha-pañjikā-ṭīka* verses 147-148, pp. 92-93.
24. Refer the *Sanmatitarkaprakaraṇaṭīka*, Gāthā—6, p. 384 and the *Pramayakamala-mārttaṇḍa*, I/3, p. 45.
25. The *Tattvārthaśloka-vārttika* I/3, Sūtra—20, Verse—99, p. 241.
26. In the commentary the author opines that : na hi bhrāntiriyamakhilabhedapratītir-ityāniścaye tad-anyathānupapattya tadbijabhūtam śabdatattvam anādinidhanam brahma siddhyati | etc.
Ibid, p. 241.
27. Ibid, verse 100; also the *Prameyakamalamārttaṇḍa*. IV/3, p. 46; also the *Syādvādaratnākara* I/7, pp. 101.
28. The *Tattvārthaśloka-vārttika* Ibid, verse—101, p. 241.
29. Ibid, verse 103, p. 241
30. The *Sanmatitarkaprakaraṇaṭīkā*, p. 381.



THE GRAMMATICAL TRADITION

प्रायेण संक्षेपरूचीनल्प विद्या परिग्रहान् ।
संप्राप्य वैयाकरणान् संग्रहेऽस्तमुपागते ॥
कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना ।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ॥
अलब्धगाधे गाम्भीर्याद्भुत्तान इव सौष्ठवात् ।
तस्मिन्न कृतबुद्धीनां नैवावास्थित निश्चयः ॥
वैजिसौ भवहृर्यक्षैः शुष्कतर्कानुसारिभिः ।
आर्षे द्विप्लाविते ग्रंथे संग्रह प्रतिकञ्चुके ॥
यः पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः ।
काले स दक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः ॥
पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः ।
सनीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः ॥
न्याय प्रस्थानमार्गास्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम् ।
प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागम संग्रहः ॥

When due to decline in the intellectual powers of grammarians and due to taste for brevity and little effort, the study of the great *Saṅgraha* of *Vyāḍi* came to an end, the great master *Patañjali* who knew all the traditions had incorporated all its ideas in his *Mahābhāṣya*. It was at once deep and lucid but the immature could not fully grasp it.

People like *Baiji*, *Śaubbhava* and *Haryakṣa*, mere logic-choppers played havoc with work which was really an epitome of the great *Saṅgraha*. In this way, the great Grammatical Tradition slipped away from the hands of the disciples of *Patañjali* and in time, the mere text of it survived in the South.

Candrācāya and others, searching for the ideas of the *Mahābhāṣya* at last got the tradition from the *Triliṅga* country, near the *Trikūṭa* mountain. After studying these ideas and after doing his own thinking and cultivating his own discipline this collection of traditions was composed by our Teacher, is *Vasurata*.

—Bhartḥari

MATHEMATICAL OPERATION IN THE STHĀNĀṄGA SŪTRA

□ *Nagendra Kr. Singh*

The “*Sthānāṅga Sūtra*” is one of the oldest Jaina canonical literature. Its date is about 300 B. C. According to the *Sthānāṅga Sūtra*, the topics for discussion in *sāṁkhyāna* or calculations are ten in number. For almost a thousand years this mathematical interpretation provided a frame work for Indian mathematics. Kapadia (1937) gives an interpretation of the topics according to Abhayadeva Sūri. According to this interpretation these ten mathematical topics represent calculations pertaining the following :

- (1) *Parikarma*—summation (if this implies summation of series then the sixth type below must mean multiplication),
- (2) *Vyavahāro—śrenivyavahāra* etc. treated in *patiganita*,
- (3) *Rajju*—plane geometry, so far as its calculations are carried on by means of a rope,
- (4) *Rāsī*—a heap of corn etc. usually called *rasivyavahāra*,
- (5) *Kālasavarṇa*—fractions,
- (6) *Yavattavat*—multiplication or summation of natural numbers,
- (7) *Varga*—square,
- (8) *Ghana*—cube.
- (9) *Vargāvarga*—fourth power,
- (10) *Kalpa*—splitting wood by means of a saw styled as *krekaḥ-vyavahāra*.

Kapadia also mentions a slightly different verse, quoted by *Śīlāṅka Sūri*, which lists eleven topics. The above ten in a different order and a topic called *pudgala*. Besides the fact that we are clear what *pudgala* means Kapadia also mentions that the weight of the canonical nature of the “*Sthānāṅga Sūtra*” makes the eleven topic version hardly admissible.

There is a wide gulf between this interpretation and that of Datta and Singh (1935). The tenth topic is read by them as “*vikalpa*” and not “*kalpa*”; and they have translated these ten topics as follows :

- (1) *Parikarma*—fundamental operations,

- (2) *Vyavahāra*—subjects of treatment,
- (3) *Rajju*—geometry.
- (4) *Rāsī*—mensuration of solid bodies,
- (5) *Kālasavarṇa*—fractions,
- (6) *Yavattavat*—simple equations
- (7) *Varga*—quadratic equations
- (8) *Ghana*—cubic equations
- (9) *Vargāvarga*—biquadratic equations,
- (10) *Vikalpa*—permutations and combinations.

This interpretation is difficult to reconcile with some other aspects of Indian Mathematics. For instance there is very little Indian Mathematics of even later periods relating to cubic and biquadratic equation. On the other hand it is true that Jaina Mathematics has been interested in permutations and combinations. Also the Jaina interest in very large numbers for their measurement of space and time would suggest that their programme would include some reference to high powers of numbers. In the light of such contextual knowledge, Śrinivās iyngar (1967) has an interpretation. I accept his interpretations with a few minor modification.

The resulting list of the topics is as follows:

- (1) *Parikarma*—the four fundamental operations of arithmetic viz. addition, subtraction, multiplication and division.
- (2) *Vyavahāra*—the applications of arithmetic to concrete problems.
- (3) *Rajju*—plane geometry calculations, as carried out by means of a rope.
- (4) *Rāsī*—heap and hence it may refer to measurements of grain etc., that is mensuration of plane figures and solids.
- (5) *Kālas varṇa*—fractions,
- (6) *Yavattavat*—since *yā* (य) stands for the unknown quantity, this topic may be interpreted as the study of “that which is unknown”; it is the science of algebra in however a rudimentary form it may have existed ; simple summations are part of this topic.
- (7) *Varga*—may be an abbreviation for square as well as square-root.
- (8) *Ghana*—may be an abbreviation for cube and cube-root.
- (9) *Vargāvarga*—may be abbreviation for higher powers and

higher roots.

(10) *Vikalpa*—permutations and combinations.

Srinivas Ienger also describes how *Anuyogadvāra Sūtra* and *Uttarādhyana Sūtra* enumerate powers and roots of numbers. What is described by him implies that performed on the number they describe the calculations of

$$a^2 \quad a^4 \quad a^8 \cdots a^{1/2} \quad a^{1/4} \quad a^{1/8} \cdots$$

as well as their squares. Cubes, squares of squares, squares of cubes cubes of cubes and so on as well as products of any pair.

Rajju or *Rajjugāṇita* is calculations with the cord ; it stands for geometrical calculations. It is different from *kṣetragāṇita* in that it is not confined only to figures that are closed ; study of any geometrical figure that lends itself to rope constructions and calculations is included in *Rajju*. In most Indian mathematical works geometry is designated as *kṣetragāṇita*. *Kṣetra* means a closed figure, whether it be a field or figure drawn on the calculating board. These are the kind of figures that are required in the construction of sacrificial altars.

Neither *kṣetragāṇita* nor *rajjugāṇita* include calculations with volumes. *Rāsīgāṇita* is calculations connected with heaps (of grains) or bricks or whatever). The mensuration formulae required with such heap calculations, are usually approximations. In later Indian mathematics *khatavyavahāra* is a topic dealing with excavations and their exact mensuration formulae are required.

We do not have much extant literature of the times to both understand what was intended by the composers of the verse and what the readers understood by the verse. As a result we tend to fill in the figure and in doing so inject our present knowledge as well as present rationale of the meaning and content of the topics. Conditional and tentative though such understandings are I try to summarise.

We now, have some understanding of the ten topics that has been enunciated in the *Śhānaṅga Sūtra*. The different interpretations help us to consider the content of the programme. For doing this we group the topics and look at each group.

Topics 1, 5, 7, 8 and 9 together include fundamental operations on numbers and fractions. They form the basic knowledge on which any study of the science of calculation is built.

Topics 2, 3 and 4 cover applications of arithmetic to practical problems. They cover the needs of the users. *Vyavahāra* seems to have the connotation of needs of daily living, though some

translators use the word as a synonym for “chapter” (as can be seen from phrases like *rasī vyavahāra* and *rajju vyavahāra*). In the context of the verse we are studying it is possible that the word *vyavahāra* meant wordly affairs.

Topic 6th provides for a means of analysis; presumably it is a problem-solving technique which enables one to solve an applied problem by reducing it to a state in which “all you need to do” is to use arithmetic. One imagines a teacher saying to a pupil; “use *yāvattavat* and then it is all *parikarma* from then on”. In other words, problems in topics 2-3-4 are “set-up” using topic 6 and then all one need to do is use the techniques in topics 1-5-7-8-9.

Topic 10th is a category by itself; it does not use arithmetic operations and fractions but it is concerned with numbers (i.e. integers) of arrangements.

We have to assume that the programme of mathematics was influential in directing both scholars and “just common plain folks” to what mathematics is

The topics 1,5,7,8 and 9 in the *Sthānāṅga Sūtra* evolve into the twenty *parikarm*. Topics 2,3 and 4 evolve into the eight *vyavahāra*. All these 20 *parikarm* and 8 *vyavahāra* are subsumed under the subject *paṭiganita*. *Paṭiganita* contains all the mathematics needed for practical purposes—constructions of road and buildings, calculating volumes of grain and other heaps, estimating of amounts in pieces of bricks and timber, interest and capital calculations, barter and exchanges as well as recreational problems. Thus practical mathematics and the underpinnings needed for it has been part of ancient Indian Mathematics.

These are the kinds of mathematical problem which are seen in the west in a rudimentary form in problems for the ‘Quickening of the Mind’ by Alcuin of York (735-804 A. D.).

The ‘*Sthānāṅga Sūtra*’ programme of mathematics provided a paradigm for a thousand years—from about 300 B. C. until about 650 A. D. Then *Brahmagupta* and *Bhāskara* provided a revision of the programme. That revision provided a framework for the next five hundred years. Manāvīra (850), Śrīdhara (950) (?) and *Bhāskara II* (1150) adhere to the revised framework.

It is reported that *Sūśruta* (who lived in the fifth century before the Christian era) was enumerating the combinations of the six tastes taken one at a time, two at a time, etc. and all at a time as 63. It is stated that the precursor of a general rule appeared in about 300 B. C.

in the “*Bhagavati Sūtra*” of the Jainas. A completely general rule is given by Mahāvīra in the ‘*Gaṇitasārasaṅgraha*’ written in 850 A. D. These would have us infer that even before the ‘*Sthānaṅga Sūtra*’ Jaina scholars had been studying mathematics. However, the first recorded enumeration of the components of mathematics is in the ‘*Sthānaṅga Sūtra*’ and it created a paradigm for Indian mathematics. □

References :

1. Datta, B. and Singh, A. N., *History of Indian Mathematics : a source book*, Volume 1, Asia Publishing House, Bombay, 1935.
2. Kapadia, H. R., *Gaṇitatilaka* by Snpati, with the commentary of Simhatilaka Suri, Gaikwada Oriental Institute, Baroda, 1937.
3. Srinivas Ienger, C. N., *The History of Ancient Indian Mathematics*, World Press Private Ltd., Calcutta, 1967. □

“म्लेच्छेषु विस्तृतं लग्नं कलिकालप्रभावतः ।

प्रभुप्रसादमासाद्य जैने धर्मोऽवतिष्ठते ॥

On account of the kali Age the science of *lagna* (Horoscope) spread among the Mlecches, but with lord’s grace, the same is still found among the Jains”.

—त्रैलोक्य प्रकाश

TWO MORE PH-D. THESES SUBMITTED

Two more Ph-D. theses have been submitted during the last quarter, ie, October to December, 1992.

१. दसवीं शताब्दी के जैन काव्य-ग्रन्थों का दार्शनिक मूल्यांकन”

(Philosophical Evaluation of Jain Poetic works belonging to the 10th century)

Researcher : Shri Jinendra Kumar Jain
Dept. of Prakrit, JVBI, Ladnun

Guide : Dr. Udaichand Jain

The author has presented a comparative study of the Jain contemporary original sources of Sanskrit, Prakrit and Apabhraṃśa poetry of the tenth century.

Thesis submitted on 7th November, 1992 to the M. L. Sukhadia University, Udaipur.

२. “युवाचार्य महाप्रज्ञ का दर्शन : एक अनुशीलन”

[A comprehensive study of Yuvacharya Mahaprajna's Philosophy.]

Researcher : Shri Anand Prakash Tripathi 'Ratnesh' of Brahmi Vidyapeeth, JVB, Ladnun.

Guide : Dr. N. M. Tatia

The research-scholar has derived philosophical thoughts from the works of Yuvacharya Mahaprajna. He has critically examined his philosophy on the basis of Pramāṇa-mīmāṃsā, Metaphysics and Ethics.

Thesis submitted on 17th December, 1992 to the Maharshi Dayanand University, Ajmer.

—Parmeshwar Solanki

XANDRAMES AND SANDRACOTTUS (2)

(Classical Accounts Re-examined)

□ *Prof. Upendranath Roy*

[Continued from Page No. 29]

PALIBOTHRA and PRASII

Megasthenes, the ambassador of seleucus described the capital of SANDRACOTTUS in INDIKA. That is preserved in the works of ARRIAN and STRABO and quite reliable. ARRIAN says the following: "The greatest city in India is that which is called Palimbothra, in the dominions of the PRASIANS, where the streams of the ERANNOBOAS and the GANGES unite,—the GANGES being the greatest of all rivers, and the ERANNOBOAS being perhaps the third largest of Indian rivers, though greater than the greatest rivers elsewhere; but it is smaller than the Ganges where it falls into. Megasthenes says further of this city that the inhabited part of it stretched on either side to an extreme length of eighty Stadia, and that its breadth was 15 Stadia, and that a ditch encompassed it all around, which was six plethra in breadth and thirty cubits in depth, and that the wall was crowned with five hundred and seventy towers and had four and sixty gates."²⁶ It shows that (1) the capital was known as PALIMBOTHRA, (2) that the city was located in PRASII (PRĀCHI), the inhabitants of which were known as the PRASIANS (PRĀCHYAS), that the confluence of the GANGĀ and ERANNOBOAS lay in the dominions of PRĀCHĪ and (4) the river. Gangā was the greatest of the rivers and ERANNOBOAS was the third.

STRABO writes the following: "It is said that PALIBOTHRA lies at the confluence of the Ganges and the other river, a city eighty Stadia in length and 15 in breadth, in the shape of a parallelogram, and surrounded by a wooden wall that is perforated so that arrows can be shot through the holes; and that in front of the wall lies a trench used both for defence and as a receptacle of the sewage that flows from the city; and that the tribe of the people amongst whom the city is situated is called the Prasii and is far superior to all the rest; and that the reigning king must be surnamed after the city, being called PALIBOTHRUS in addition to his own family name, as for

example, King SANDROCOTTUS to whom Megasthenes was sent on an embassy. Such is also the custom among the PARTHIANS for all are called ARSACES, though personally one king is called ORODES, another PHRAOTES, and another something else."²⁷

STRABO, thus, has PALIBOTHRA for PALIMBOTHRA. He gives some details about its surrounding wall and the trench. An important detail he gives is that the city lay "at the confluence of the Ganges and the other river." "The other river" is believed to be ERANNOBOAS which is identified with the Son. But were that true, why should ARRIAN cut his description short with mentioning the confluence of ERANNOBOAS and GANGES as lying in the dominions of the PRASIANS only? Why should he refrain from adding that PALIBOTHRA lay at the confluence? The most important piece of information we get from STRABO is that the rulers of PALIBOTHRA were surnamed PALIBOTHRUS the way the PARTHIAN kings were called ARSACES.

PLINY and SOLINUS give the additional information that the PRASII were called the PALIBROTHIS after the name of their capital. Pliny observes: "But the Prasii surpass in power and glory every other people, not only in this quarter, but one may say in all India, their capital being PALIBOTHRA, a very large and wealthy city, after which some call the people itself the PALIBOTHRI,—nay, even the whole tract along the Ganges. Their king has in his pay a standing army of 6,00,000 foot-soldiers, 30,000 cavalry, and 9,000 elephants; whence may be formed some conjectures as to the vastness of their resources."²⁸ And Solinus remarks: "The PRASIAN nation, which is extremely powerful, inhabits a city called PALIBOTHRA, whence some call the nation itself the PALIBOTHRI. Their king keeps in his pay at all times 60,000 foot, 30,000 horse, and 800 elephants."²⁹

Do these details establish the identification of PALIBOTHRA with PĀṬALIPUTRA and PRASII with MAGADHA? That is taken for granted as ERANNOBOAS is believed to be the SON and the confluence of the GANGĀ and SON lies in Magadha. What is overlooked in this connection is the following: (1) PĀṬALIPUTRA can become PALIBOTHRA only if the 't' disappears and the second 'p' is changed into 'b'. The explanation offered is a long process of development from PĀṬALIPŪRTA to PĀṬALIPUTRA to PĀḌALIVUTRA to PĀALIVUTQA to PĀLIBUTRA. Though acceptable to eminent scholars like Dr. S. K. Chatterjee, the explanation is hardly credible.³⁰ Evidence of literature and inscriptions does not support

it. Nor is there any reason to believe that the Greeks picked up Indian proper names from Prakrit and not from Sanskrit, (2) Regarding the ERANNOBOAS, it may be the HIRAṆYAVĀHA but that does not establish its identification with SON. The Greeks could not have called it "the third largest river" as the three largest rivers known to them were undoubtedly the Sindhu, Gangā and Yomunā. ERANNOBOAS is referred to by ARRIAN and PLINY only, ARRIAN calls it the third largest river of India at one place, and mentions ERANNOBOAS and SONUS together as the tributaries of the Ganges at the other. Pliny mentions it once only alongwith the Sonus as tributaries of the Ganges.³¹ If ERANNOBOAS is identified with the SON, the SONUS remains unidentified. These are the only references to the ERANNOBOAS in the classical accounts and too obvious to leave room for any doubts. Attempts to identify the ERANNOBOAS with the SON despite that, show that the prejudices have prevailed over reason, that holds good about the baseless propaganda that the PALIBOTHTHA lay on the confluence of the GANGĀ and the SON, (3) As Magadha is situated in the eastern part of India it can be called 'PRĀCHYA JANAPADA' or PRĀCHĪ but the words are by no means the monopoly of Magadha. None of the rulers of Magadha had a title like Pātaliputriya as Strabo's information would demand, nor were the people of Magadha ever known as PĀṬALI-PUTRI as Pliny would have it. Finally, Magadha was never known as PĀṬALIPUTRI as SOLINUS asserts.

There is no dispute as to who founded PĀṬALIPUTRA and when. Udayī, son of Darśaka of Śiśunāga dynasty founded the city on the south bank of the Gangā during the fourth year of his reign :—

उदयी भविता तस्मात् त्रयस्त्रिंशत्समानुपः ।
 स वै पुरवरं राजा पृथिव्यां कुसुमाह्वयम् ॥
 गङ्गाया दक्षिणे कूले चतुर्थेन्दे करिष्यति ॥³²

But Palibothra was founded by HERACLES who belonged to the sixteenth generation from DIONYSUS. DIODORUS says that HERACLES founded numerous cities of which most famous and the greatest was PALIBOTHTHA³³ It is remarkable that the classical authors have assigned to the foundation of Palibothra a date millenia before Alexander. If the invasion of Alexander took place during the last days of the Nanda rule, less than three centuries would have passed since Udayī. How could such brief period be mistaken for millenia? There is dispute regarding the identity of Heracles but has

so for identified him with Udayī. Differences regarding founder and the date of founding make it imperative to hold PALIBOTHTRA different from Pāṭaliputra.

If PALIBOTHTRA is identified with PĀṬALIPUTRA, we would have hard time explaining the following statement of Pliny : "The river Jomanes flows through the PALIBOTHTRI into the GANGES between the towns METHORA and CARISOBORA"³⁴ We have seen earlier that PALIBOTHTRI means the land where PALIBOTHTRA was situated, while R. C. MAJUMDAR reads as above, Dr. B. C. LAW substitutes 'CRISOBARO' for 'CARISOBORA'. It is identified variously by the scholars as Kṛṣṇapura in AGRA (LASSEN), KEŚAVAPURA MUHALLA of MATHURA (CUNNINGHAM) and GOKUL (S. N. MAJUMDAR).³⁵ ARRIAN names two big cities of the SURSENOI as METHORA and CLEISOBORA, which shows that 'CARISOBARA' was also known as CLEISOBORA.³⁶ Controversy regarding CARISOBORA does not stand in our way of approaching the truth because SOMANES and METHORA are identified indisputably with the YAMUNĀ and METHORĀ respectively. Identifying PALIBOTHTRA with PĀṬALIPUTRA leads to the question ; Since when does the YAMUNĀ flow through Magadha and where does she join she river GANGĀ in or beyond Magadha ?

Pliny writes in the same vein : "From thence (i e. PEUCOLAITIS) to the river Indus and the city of Taxila, 60; from thence to the famous river HYPASPES, 120 ; from thence to the HYPASIS, a river no less famous, 290 miles and 390 paces. This last was the extreme limit of the expedition of Alexander, through which he crossed the river and dedicated certain altars on the opposite side. The dispatches written by order of that king full agree with the distances above stated. The remaining distances beyond the above point were ascertained on the expedition of SELEUCUS NIKATOR :—168 miles to the HESIDRUS, and to the river JOMANES as many (some copies add 5 miles); from thence to the GANGES 112 miles, 119 miles to RHODOPHA (Others give 325 miles for this distance). To the town KALINIPAXA 167—500 (others give 62) miles. Thence to the confluence of the JOMANES and GANGES 625 miles (many add 13 miles), and to the town PALIMBOTHTRA 425".³⁷ It is not difficult to see whether PALIMBOTHTRA would lie to the west Prayāga or in Magadha if the confluence of the Gangā and Yamunā were 625 miles from a place in the west and PALIMBOTHTRA 425 miles only.

PALIBOTHTRA (or PALIMBOTHTRA) was situated in the PRĀCHYA JANAPADA. The word 'PRĀCHYA' is relative, Even

today the people of U.P., particularly those of AWADH, are called eastern people (PŪRBIYĀ) by the people of PANJAB and HARYĀNA. The rivers GANGĀ and YAMUNĀ flow through the region that lies of the eastern bank of the GANGĀ upto PRAYĀGA. Grammarians like PATAÑJALI have used the word for the same region. One of the languages BABER heard spoken in the bazar of KABUL was called 'PRĀCHĪ'. Syed Muftaba Ali in his Bengali work '*DEŠE-VIDEŠE*' identifies it with AWADHĪ. Undoubtedly PRASII in the classical accounts is derived from PRĀCHĪ and PRAISII from PRĀCHYA. Equally assured we are of the fact that the Greeks were not acquainted with the Brahmaputra and if we have that, the Yamunā is the third largest river of India. That the ERAN-NOBOAS ought to be identified with the yamunā is not a new idea which has just come to my mind. Dr. B. C. Law had the same opinion about it.³⁸ That demolishes the ground for placing PALI-BOTHRA in Magadha.

What then was the original name of PALIBOTHRA or PALIM-BOTHRA? It was PALIBHADRĀ and its derivatives are PĀLIBHADRA, PĀLI BHADRĪYA etc. Its alternative name was PARIBHADRĀ from which the words PĀRĪBHADRA, PĀRĪBHADRĪYA etc. were derived. Pt. BHAGAVADDATTA in his history of the Vedic literature enumerates 17 divisions of the Vāji-Mādhyandinī-Śuklayajuḥ. Fifteenth of them is the GĀLAVA which has got 24 sub-divisions, ninth of them being PĀLIBHADRA.³⁹ It is said to have belonged to Sinkaladeśa. Whatever, the identity of Sinkaladeśa, the existence of PALIBHARĀ is established from that. It cannot be dismissed as something imaginary. Not only that, we have to admit that the city of PALIBHADRĀ was a centre of Vedic studies and as such it was quite famous. It was but natural for the rulers, for the Kṣatriyas of the country and even for common people to be proud of their association with it. They introduced themselves to others with a reference to PALIBHADRĀ. So the ruling family was known as PĀLIBHADRA while the inhabitants and even the dominions were called 'PĀLIBHADRĪYA'.

Though it would appear a diversion, it behoves to observe something about the PRATIĪHĀRA RAJPUTS in this connection. Well-known scholars in India as well as abroad have held that the PRATIĪHĀRAS were a branch of the GURJARS who came to India with the Hūṇas. Dr. H. C. Raychaudhury thinks the PRATIĪHĀRAS were so called because they served as door-keepers during some sacrifice performed by DANTIDURGA, the RĀṢṬRAKUṬA ruler

Dr. A. C. Banerjee and Dr. A. B. L. Awasthi think they won the title by serving as the door-keeper of the national frontiers.⁴⁰ The Purāṇas derive the name from their mythical progenitor, PRATI-HĀRA :—

परमेष्ठी ततस्तस्मात् प्रतीहारस्तदन्वयः ।

प्रतीहारात् प्रतिहर्त्ता प्रतिहर्तुर्भुवस्ततः ॥

(AGNIPURĀṆA)

परमेष्ठी सुतस्तस्मात्प्रतीहारस्तदन्वयः ।

प्रतिहर्त्तेति विख्यातः उत्पन्नस्तस्य चात्मजः ॥

(KŪRMAPURĀṆA)

The earliest available inscription of the PRATIHĀRAS GWALIOR (SAGARTAL) STONE INSCRIPTION OF BHOJA-I—derives the word from 'PRAHARAṆAVIDHI' and claims their descent from the solar line. LAKṢAMAṆA, the younger brother of RĀMA served him as a PRATIHĀRA by expelling the enemies and therefore his descendants became known as the PRATIHĀRAS. As the word 'PRATIHĀRA' was mistaken for the original word such fictitious derivations were traced on one hand, association with some foreign invaders or intruders was sought on the other. That a new word can gain currency without a foreign invasion seems inconceivable to a section of our esteemed scholars. But that is not necessarily true nor we can even take the stories of the Hūṇa invasion as good coin (we intend to discuss it in a separate article). It is more sensible to hold that the word 'PĀLIBHADRA' became PALIBHĀRA and then PALIHĀRA in courses of time, while the alternative form PARIBHADRĀ led to the word PARIHĀRA. As 'l' and 'r' are sometimes pronounced as 'n' (ङ) the same word assumed a third form, 'PARIHĀRA' (पड़हार). The origin of the words was forgotten after a lapse of centuries and faulty, false Sanskritization resulted in 'PRATIHĀRA'. That the PARIHĀRAS are the descendants of the Kṣatriyas of PALBHADRĀ and belong to the SOLAR LINE as claimed in the GWALIOR INSCRIPTION makes sense and serious objections against it have never appeared. Baseless assumptions and obstinacy should have no room in historical research.

SANDROCOTTUS

Justin has left an account of how SANDROCOTTUS became a ruler, that is the only information we have about the early life of that king. So we quote the passage in full :

“SANDROCOTTUS was the leader who achieved their freedom,

but after his victory he forfeited by his tyranny all title to the name of the liberator, for he oppressed with servitude the very people whom he had emancipated from foreign thralldom. He was born in humble life, but was prompted to aspire to royalty by an omen significant of august destiny. For when by his insolent behaviour he had offended Nandrus, and was ordered by that king to be put to death, he sought safety by a speedy flight. When he lay down overcome with fatigue and had fallen into a deep sleep, a lion of enormous size approaching the slumberer licked with its tongue the sweat which oozed profusely from his body, and when he awoke quietly took its departure. It was this prodigy which first inspired him with the hope of winning the throne, and so having collected a band of robbers, he instigated the Indians to overthrow the existing government. When he was thereafter preparing to attack Alexander's prefects, a wild elephant of monstrous size approached him and kneeling submissively like a tame elephant received him on its back and fought vigorously in front of the army. SANDROCOTTUS thus having won the throne was reigning over India when SELEUCUS was laying the foundations of his future greatness. SELEUCUS having made a treaty with him and otherwise settled its affairs in the east, returned home to war with ANTIGONUS".⁴¹

That is how McCrindle has rendered Justin. McCrindle followed GUTSMID in altering the text by replacing "ALEXANDRUM" with "NANDRUM"! The original reading is, however, accepted as the correct one by scholars including Dr. R. C. Majumdar. So it was not Nanda, but Alexander who wanted to have SANDROCOTTUS killed. Similarly, for "a band of robbers", scholars like Dr. R. C. MAJUMDAR suggest "band of mercenaries". Even if the text stands as McCrindle has it, it does not make much difference. Even the fighters for the best cause are called thieves and robbers by the enemies and Justin undoubtedly was an admirer of the enemies of Sandrocottus.

We are in a position now to draw the following conclusions about SANDROCOTTUS : (1) His real name was CHANDRA-GUPTA. That is the conclusion we get from phonetics. (2) He was born in an ordinary Kṣatriya family. (3) Favourable conditions encouraged him to aspire for the throne. (4) He met Alexander but his behaviour (outspokenness) enraged the latter with the result that he was ordered to be put to death and had to flee. (5) He overthrew Chandramā after the return of Alexander, uprooted the prefects of Alexander and won the independence of his country. (6) He con-

fronted SELEUCUS and compelled the latter to conclude a treaty. (7) His capital, PALIBHADRĀ was situated 200 miles, west of PRAYĀGA. (8) His surname was PĀLIBHADRA from which the name of the PARIHĀRA RAJPUTS is derived.

We cannot link this CHANDRAGUPTA with the Maurya or the the Gupta dynasty. Justin does not mean that he belonged to a low caste. All he means is that his forefathers were not rulers and did not belong to a royal family. It is not necessary for all the Kṣatriyas to be rulers or their relations. Even if Justin's statement implied low caste, neither the Mauryas nor the Guptas were low cast. The Mauryas were a Kṣatriya tribe. The Mauryas of PIPPLIVANA were quite famous during the days of Buddha. It is ungrammatical and baseless to say that the "Maurya" is derived from Murā. Nor can we identify SANDROCOTTUS with a Gupta ruler on the ground that the Guptas were the KĀRASKARA (that is, KAKKAR JATS). Dr. Sriram Goyal has established long ago that the Guptas were Brāhmaṇas.⁴² So Dr. Jayaswal's contention is no longer tenable. And even if we accept it, that does not yield the result desired. Despite differences in the social status, GUJARS, RAJPUTS and JATS belong to the same category anthropologically. the Jats call themselves Kṣatriyas. But even if they are taken to be Śūdras, that does not make them barbers. So even if the Guptas were KAKKAR JATS, that does not prove them barbers. So the usurper mentioned by Curtius and Diodorus cannot belong to the Gupta dynasty nor has he anything to do with SANDROCOTTUS. The surname PALIBOTHRUS cannot be linked with the Mauryas or the Guptas either.

It has been assumed on the authority of the KALIYUGA-RĀJAVRṬTANTA' that the SANDRAMES of the accounts is CHANDRA ŚRĪ of the ĀNDHRA dynasty. Chandragupta I, the founder of the Gupta dynasty, was first a soldier and then became a general. He had illegitimate relation with the queen of the old king. He got CHANDRA ŚRĪ murdered and became a guardian of the princes. Then he begot a son called Pulomā from the queen who ruled for seven years only in name. Samudragupta gathered a band of robbers and usurped throne etc.

The KALIYUGARĀJAVRṬTANTA, allegedly a part of the Bhaviṣyottara purāṇa was quoted by T. Narayan Shastri in the 'Age Of Shaṅkar' for the first time. Then, R. Krishnamachariar quoted it in his 'History of the classical Sanskrit Literature'. But the verses quoted were not found in any copies of the 'Bhaviṣyottarapurāṇa'. So, Prof. B. S. Upadhyaya of Pilani College corresponded with

Krishnamachariar from 1939 to 1941. But the latter could not show him the manuscript that contained the verses quoted. Krishnamachariar (presumably the owner of such a manuscript) died in 1941 and the matter could not be pursued further. However, the scholars have examined the published material and concluded that the Kaliyugarājavṛttānta was composed some time after 1889 A. C. after the discovery of the Bhitari seal of Kumārgupta. This conclusion based on internal evidence cannot be brushed aside.⁴³

There are scholars like K. D. Sethna who do not believe in the authenticity of the Kaliyugarājavṛttānta and yet contend that the Guptas followed shortly after the Āndhras. They identify Sandrocottus with some ruler. That does not seem probable from the Purāṇas. Whenever a dynasty follows the other, the Purāṇas mention it. The Śśunāga dynasty was followed by the Nandas. When the Nandas were uprooted, the Mauryas came to power. We have quoted the relevant verses earlier. The Purāṇas do not fail to mention that Puṣyamitra founded the Śśunga dynasty after murdering the Maurya ruler Bṛhadratha :

पुष्यमित्रस्तु सेनानीरुद्धृत्य स बृहद्रथम् ।
कारयिष्यति वै राज्यं..... ॥

Devabhūmi, the last ruler of Śśunga dynasty was murdered by his minister Vasudeva who founded the Kāṇva dynasty :—

अमात्यो वसुदेवस्तु बाल्यात् व्यसनं नृपम् ।
देवभूमिं तथोत्पाद्य शुङ्गेषु भविता नृपः ॥

His dynasty was uprooted by Sindhuk (or Śśuka) who founded the Āndhra dynasty.⁴⁴ Thus the Purāṇas do not hide even the murders committed by the rulers they could have favoured. They are not expected to hide the alleged murders of Chandraśrī and Pulomā by the founder of the Gupta dynasty under the circumstances if it were true. More so, if the Guptas were low caste people, namely, barbers. It is significant that the Purāṇas, despite their attempts to maintain a continuity, do not name the Guptas as the successors of the Guptas. Instead they mention Āndhra bhṛtyas, Ābhīras, Gardabhins, Sakas, Yavanas and Tuṣaras as the rulers of the period that followed. A powerful king named Viśvasphāni or Viśvasphūrji was the ruler of Magadha for some time and the Nāgas held sway in Mathurā and Champā. Then came the Guptas. So there was a long interval between the Āndhras and the Guptas.

We can approach the problem from a different point too, 1500

years passed since the birth of Parīkṣit to the coronation of Mahapadma :—

यावत्परीक्षितो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम् ।
एतत्तवर्षसहस्रान्तु ज्ञेयं पञ्चशतोत्तरम् ॥

And 836 years passed from the coronation of Mahapadma to the end of the Āndhras :—

अन्तरं तच्छतान्यष्टौ षड्त्रिंशत् समास्तथा ।
तावत्कालान्तरं भाव्यमन्ध्रान्ताद्यः प्रकीर्तितः ॥⁴⁵

Now Parīkṣit was born in 3137 B. C. The rule of the Andhras came to an end 1500+836=2336 years later in 801 B. C. Xandrames and Sandrocottus belong to a period much later. In order to remove the difficulty the word 'andhrānta' is taken to mean 'the Andhras stand at the end of which' and the rule of the Andhras is supposed to have begun in 801 B. C. Even then the Andhra rule must have come to an end in 341 B. C. as none of the Purāṇas assigns more than 460 years to the Andhras. That too is a date prior to that of Sandrocottus who came to power after departure and death of Alexander. PALBOTHURUS, the surname of Sandrocottus cannot be equated with 'gupta' or 'āditya' the title of the Guptas.

Testimony of the Political Tradition

There is something in the accounts which may prove helpful in identifying Sandrocottus. That is as follows :

(1) From the time of Dionysus to Sandracottus, the Indians counted 153 kings and a period of 6042 years, but among these a republic was thrice established.....and another to 300 years, and another to 120 years. The Indians also tell us that Dionysus was earlier than Heracles by fifteen generations—Arrian.

(2) Their kings from Father Bacchus down to Alexander the Great are reckoned at 153 over a space of 6451 years and three months—PLINY.

(3) Father Bacchus was the first who invaded India.....From him to Alexander the great 6451 years are reckoned with three months additional the calculation being made by counting the kings who reigned in the intermediate period to the number of 153—SOLINUS.⁴⁶

Generally this tradition is believed to refer to Magadhā. Were that true, we should have to admit that there were 153 kings there during 6778 B. C. to 327 B. C. Now 2810 years passed since the birth of Parīkṣit to Alexander's invasion. The number of the king

does not reach 153 up to the Mauryas; though it may up to the age of the Guptas. Not more than ten kings are known to have ruled in Magadha before 3137 B. C. Political history of Magadha does not pass beyond 250 to 300 years before the age of the Mahābhārata while this tradition takes it to more than 3600 years before that. The reference to the republics is even more bewildering. The duration of the two republics given amounts to $(300+120=420)$ years and if we add the figure to 6042, we get 6462 years, though the duration of the first republic is missing. It is a puzzle that the total exceeds 6451 years. Then, the history of the Magadha is well-known but we are not aware of a republic ever being established there.

How baffling this tradition becomes when interpreted in connection with Magadha is evident from the latest writings of Dr. D. S. Triveda on the subject. There were 22 kings of the Bārhadratha dynasty, 5 of the Pradyota, 12 of the Śiśunāga, 9 of the Nanda, 12 of the Maurya, 10 of the Śunga, 4 of the Kaṇva and 32 of the Andhra dynasty during the post Mahābhārata period. That totals 106 and falls short of 153. Dr. Triveda completes the total by adding 47 kings belonging to Kṛta, Tretā and Dvāpara. True, they were famous but they were not rulers of Magadha and there can be, therefore, no justification for counting them as such.⁴⁷

Even the regnal years have to be manipulated for the purpose. The Nandas reigned not less than 136 years but Dr. Triveda counts a hundred only. The reign of the Mauryas given as 137 years in the Purāṇas is raised to 316. Similarly the reign of the Śungas is raised to 302 years from 112 or 120, of the Kaṇvas to 85 from 45 and of the Andhras to 560 from 460. Such changes we find hard to defend, we do not find names of all the Andhra rulers and their regnal years fully in any of the Purāṇas, but we find that in case of the Maurya, Śunga and Kaṇva rulers. We can add the regnal years of the individual kings and check the figures for the dynasties against them. Such checks and counter-checks prove the figures given in the Purāṇas reliable. Again 2336 years passed since the birth of Parīkṣit to 'Andhrānta' according to the Purāṇas. If the term is interpreted as the beginning of the Andhra rule, Dr. Triveda has 2304 years only which is less than 2336 years of the Purāṇas. If the term is interpreted as the end of the Andhra rule, Dr. Triveda has 2810 years which is more than one cycle of the Saptarṣis. The cycle has an important place in the chronology of the Purāṇas. One cycle of the Saptarṣis was completed from the days of Pratīpa to the end of the Andhara rule. The something is put differently when the Purāṇas declare that the Saptarṣis were staying in the Maghā during the age

of the Mahābhārata but stayed in the 24th nakṣatra at the end of the Andhra rule. The saptarṣis started their stay in Maghā for a century in 3176 B. C. according to Varāhamihira, Kalhaṇa and the Purāṇas. They completed 2300 years and passed to the 24 nakṣatra in 876 B. C. accordingly. They are expected to remain there even after the end of the Andhra rule (3137—2336=) 801 B. C. Manipulation of the figures given in the Purāṇas upsets the calculation based on the Saptarṣi cycle.

We get rid of such troubles the moment we link the tradition with Palibhadra. Though most of its history is lost and forgotten, we can safely assert that civilisation on the banks of the Gangā and Yamunā grew earlier than that in Magadha. Hence, our difficulties are removed as indicated below :—

1. 153 kings of the tradition belong to Palibhadrā. Chandra gupta Pālibhadra, the contemporary of Seleucus was the 154th king of Palibhadrā.

2. Dionysus preceded Alexander, we are not concerned about his identity as he was not a king of Palibhadrā, but his date is $327 + 6451 = 6778$ B. C.

3. Heracles founded Palibothra 15 generations after Dionysus. About 400 years are expected to have passed by the time, Actually it was 409 years after Dionysus, that is, $6778 - 409 = 6369$ B. C. That is why Arrian gives the figure 6042 years before Alexander and not 6451 years as given by Pliny and Solinus. Heracles is derived from Hṛṣikeṣa. But the Parihāras belong to the Solar Line and Palibhadrā was founded more than three millenia before Kṛṣṇa. So the founder of Palibhadrā was some illustrious ruler of solar line called Hṛṣikeṣa.

4. Diodorus (21/39) says Heracles was the founder of numerous cities and Palibothra was the greatest and most famous of them. Later most of the cities adopted a republican system of government though some of them retained monarchy up to the days of Alexander.⁴⁸ That indicates the possibility that a republic was established thrice in Palibhadrā. In case of Magadha, there is no evidence of the kind.

5. If the average reign of a king is accepted as 25, we get 3825 years for the reign of 153 kings. The remaining 2217 years can be assigned to the republics. As the second of them lasted 300 years and the third for 120 years, the first might have lasted 1797 years.

Scholars in India and abroad are requested to consider the above

with open mind. Truth is undoubtedly greater than Sir william Jones and deserves more respect from us. □

Reference (Continued from page 30) :

26. Classical Account of India, P. 224
27. Do, P. 262
28. Do, P. 342
29. Do, Pp. 457-458
30. Jarl Charpentier, ZDMG, Lxx, Pp. 216-250; S. K. Chatterjee, Origin and Development of Bengali Language, Vol. I, Calcutta, 1985, P. 148
31. Classical Accounts of India, Pp. 217,224,341
32. Pargiter, DKA, P. 22
33. Classical Accounts of India, P. 236
34. Do, P. 343
३५. लाहा, प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, पृ० ५६ ।
36. Classical Accounts of India, P. 222
37. Do, P. 341
३८. लाहा, प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, पृ० ५६ ।
३९. भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास (प्रथम भाग) प्रणव प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् १९७८ पृ० २०२-२०३ ।
40. A. B. L. Awasthi, History from the Puranas, Lucknow, 1975, P. 101
41. Classical Accounts of India, P. 193
42. S R. goyal, A History of the Imperial Guptas, pp, 70-81; गोयल. प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास, भाग ३, पृ० ३९-४२ ।
43. Jagannath Agrawal, Kalyuga Rājāvṛttanta and the Imperial Guptas JBORS, Vol. XXXI, 1945, Pp. 28-31
44. Pariter, DKA, Pp. 31,34,38
45. Do, Pp. 26,30,33,35,38
46. Classical Accounts of India, Pp. 223,340,457
४७. देवसहाय त्रिवेद, परिषद् पत्रिका, जनवरी १९८७, पृ० १७०-१८७; समाज, धर्म एवं दर्शन, वर्ष ६, अंक १-२ ।
48. Classical Accounts of India, P. 236

□

MISPRINTS IN PART-1

Readers are requested to read Exceptions for Receptions on page 14, para 3, line 1; Extant for Recent (page 16, para 3, lines 2 and 6) and Retant (para 1, line 4; para 2, line 13; para 4, line 5); Existence for Resistance (page 16, para 4, line 7); Mccrindle for Meccrindle (page 16, para 5, line 10); Sent for Setn (page 18, last para, last line); Staving for Starving (page 19, para 3, line 7 and page 22, line 6th from bottom); Explicit for Replicit (page 22, line 7th from bottom); Status of the Usurper for States etc. (page 23); Emperor for Emberor (page 23, line 3rd from bottom); Incumbent for Incombent (page 23, line 5th from bottom); Test for Text (page 25, para 1, last line); Gurjar-Rāṣṭra for Garja-Rāṣṭra (page 26, para 2, line 4); Born for Both (page 27, para 1, line 7) and Palibothra for Palibothrus (page 29, para 2, last line).

दुर्लभ और संग्रहणीय

'तुलसी प्रज्ञा' के अनेकों/दुर्लभ अंक पुरानी दरों पर विक्रय हेतु उपलब्ध हैं। खण्ड-१७ के चारों अंक ४५/- रु० में और शेष ३५/- रु० वार्षिक अथवा प्रति अंक १०/ रु० में देय हैं।

कृपया शुल्क तथा पैकिंग और पोस्टल रजिस्ट्रेशन के लिए दस रुपये अग्रिम भेजें और इस सुविधा से लाभ उठावें।

विशेषांकों के लिए प्रति अंक पन्चोस रुपये और पोस्टल रजिस्ट्रेशन शुल्क भेजें।

—संपादक, तुलसी प्रज्ञा

जैन विश्व भारती, लाडनू-३४१३०६

Registration Nos. [Postal Department : NUR—08
Registrar of Newspapers for India : 28340/75

Vol. XVIII

TULSI-PRAJÑĀ

1992-93

JVBI Research Journal

ऋषभदेव मुद्रा



कायोत्सर्ग के साथ बृषभ मोहेनजोदड़ो-खोदाई में प्राप्त
(लग० पांच हजार वर्ष प्राचीन)

Jain Vishva-Bharati Institute, Ladnun—341-306

प्रकाशक-मुद्रक : रामस्वरूप गर्ग द्वारा जैन विश्व भारती, लाडनू-३४१३०६ के लिये
जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनू (नागौर) में मुद्रित । संपादक : डॉ० परमेश्वर सोलंकी